भगवान् कदाचित् अपने आप स्वतः ही शोभा प्रकट करे, तो स्वतः शोभा का निषेध करने के लिये 'ताभिः' कहा है, भगवान् की शोभा तो गोपियों के साथ से ही होनी है ।

यदि शंका करो कि भगवान् तो सहज शोभायुक्त हैं, फिर गोपियों के साथ से अति शोभा कैसे कहते हो ?

इसके उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि 'भगवान् जिस प्रकार प्रभु ऐश्वर्यादि छै गुणों से भगवान् कहे जाते हैं, उसी प्रकार गोपियों के साथ भगवान् की अधिक शोभा होती है ।

यदि कहो कि ऐश्वर्यादि गुण तो सर्वोत्तम हैं, गोपियां तो सर्वोत्तम नहीं हैं ।

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि ( देवकीसुतः ) जिस प्रकार भगवान् भक्ति से देवकी जी के भी पुत्र हुए, उसी प्रकार भगवान् स्त्रियों के ऊपर उपकार करने के लिये प्रकट हुए हैं, अतः गोपियों को भी अपना सामर्थ्य ही देकर शोभा को प्राप्त हुए हैं ।

यदि कहो कि सहजशोभित भगवान् की कृत्रिम-बनावटी पदार्थों से शोभा नहीं होती है— इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त देकर समाधान करते हैं कि 'मध्येमणीनां' महामरकत, गरुडोद्गारिमणि सहज शोभा युक्त होती है, और सुवर्णमणि कृत्रिम बनी हुई है, तथापि सुवर्णमणि चारो तरफ ग्रथित होती हैं तो उस समय सहजमणि को भी अति शोभित कर देती हैं, उसी प्रकार भगवान् की सहज शोभा को भी गोपियाँ अपने साथ से अतिशोभित कर देती हैं ।। ७ ।।

( सुबो० ) एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा मुख्यं नृत्यमाह पदन्यासैरिति ।

इस प्रकार पूर्वपीठिका कहकर शुकदेव जी आगे 'पादन्यासैः' इस श्लोक से मुख्यनृत्य कहते हैं ।

पूर्व श्लोक में भगवान् को देवकी सुत कहा है, इससे गोपियों को भी अपना सामर्थ्य देकर भगवान् शोभित हुए, अब इस श्लोक में शोभा साधन करने वाले नृत्य सामयिक पादन्यास आदि वाक्यार्थ हैं, इसलिये पादन्यास आदि शोभावर्द्धक हैं, अतः आभास में 'मुख्यं नृत्यमाह' इस प्रकार कहा है ।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैः
भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाऽग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥ ८ ॥

**पदपदार्थ**—( पादन्यासैः ) विविध प्रकार से चरणों के धरने से ( भुज विधुतिभिः ) भुजाओं के चलने से ( सस्मितैः ) मन्दहास्य युक्त कटाक्षों से ( भ्रूविलासैः ) भृकुटिविलासों से ( भज्यन्मध्यैः ) भङ्ग-नवेहुए कटि भागों से ( चलकुचपटैः ) हिलते हुए कुचों के वस्त्रों से ( कुण्डलैः ) (गण्डलोलैः) हिलते हुए गण्डस्थल में कुण्डलों से ( स्विद्यन्मुख्यः ) स्वेद-पसीना युक्त मुख वाली (कबर रशना) केश पाश तथा कटिवस्त्र का बंधन ( अग्रन्थयः ) ग्रन्थ-रहित, शिथिल गांठ जिनकी हो गई है, इस प्रकार की ( कृष्णवध्वः ) कृष्ण वधू गोपियां ( तं ) उस कृष्ण के ( गायन्तः ) गुणगान करतीं ( मेघ चक्रे ) मेघसमूह में ( तडितः ) बिजुली की ( इव ) तरह ( ताः ) वे गोपियाँ ( विरेजुः ) शोभित हुईं ।। ८ ।।

**भावार्थ**--विविध प्रकार से चरणों के धरने से, भुजाओं के चलने से, मंदहास्ययुक्त कटाक्षों से और भ्रुकुटि विलासों से तथा भङ्ग नवेहुए कटिभागों से हिलते हुए कुचों के वस्त्रों से और गंडस्थल में हिलते हुए कुण्डलों से पसीना युक्त मुख वाली केशपाश और कटिबंधन शिथिल जिनका हो गया, इस प्रकार की कृष्ण वधू गोपियां भगवान् के गुणगान करतीं मेघचक्र में बिजुली की तरह शोभित हुईं ।। ८ ।।

( सुबो० ) पादन्यासाः सर्वं एव चारीकरणरूपाः । भुजानां विधुतयश्च सर्वंहस्तकभेदाः । एकेनावयवेन शिष्टावयवाः तथा संविधानयुक्ता इति ज्ञेयम् । मन्दहाससहिताः सर्वं एव कटाक्षा उक्ताः । भ्रू भेदाश्च । तत्तद्रसे हृदयाविष्टे तथैव भवन्तीति । भज्यद् भङ्गयुक्तानि मध्यानि उपरिभाग परिवर्तनात्मकानि । रसाभिनिविष्टानां तासां सर्वविवानि भ्रमणेन रस एकीभवतीति । परिवर्तनादिभिरेव वा चलेषु कुचेषु पटा इति । सर्वाण्येव कम्पनान्युक्तानि । कुण्डलैर्गण्डलोलैरिति । सर्वएव शिरोभेदाउक्ताः । शिरोभेदेष्वेब वक्तव्येषु कुण्डलानां यच्चलननिरूपणम्, तद्विद्युतामिव शोभार्थम् । गण्डलोलैरिति सर्वा कान्तिस्तत्रो पक्षीणेति ज्ञापनार्थम् । गण्डेहि केवलो रसः । पेयो रसस्तत एव पीयत इति । विद्योतनं तस्यैवाभिव्यक्त्यर्थम् । ततोऽन्तः स्थितो रसः पुष्टोभिव्यक्त इति ख्यापनार्थमाह स्विद्यन्मुख्य इति । स्विद्यत् स्वेदयुक्तानि मुखानि यासामिति । कबर रशनासु च अग्रन्थयोजाताः । रसेन सर्वावयावस्थेन एकीभूतेन देहः सूक्ष्मतामापन्नः । अतः केशपाशे रसनायां च ग्रन्थिः शिथिलः । नन्वेवं कथं श्रमः तत्राह कृष्णवध्व इति । सदानन्दस्य हि फलस्य ता उपभोक्त्र्यः । अतः क्रियायां श्रमोभवत्येव । एवं कायादि श्रमैरपि एतादृश्योऽप्यन्तः सन्तोषेण गायन्त्यो जाताः । ता विरेजुः । अतिशोभायुक्ता जाताः । ननु लोकानां दर्शन सा शोभा, तडितास्तदा कथं सर्वैर्दृष्टा इति, तत्राह तडित इव ता इति । नहि तडित बहुकालं दर्शन योग्या भवति । मेघचक्रे शोभामेव परं सम्पादयति । तथा कृष्णसमूहे भगवता आच्छादिताः । परितः कदाचिदेवोद्गताः केनचिदंशेन दृष्टा भवन्ति । अतस्तासां शोभा न दोषावहा जाता, किन्तु विशिष्टैव जाता ॥ ८ ॥

पादन्यास अर्थात् 'सर्वं एव चारीकरण रूपाः ।' सर्वप्रकार से ही चरण धरने की तथा चलाने की क्रिया, चारी तथा करण. ये नाट्य शास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं. एक चरण फेरना हो तो, उसे चारी कहते हैं, और दोनों चरण फेरने का नाम करण है ।

भुजाओं को चलाने से नाटयशास्त्र सिद्ध सर्वहस्तक भेद सिद्ध होते हैं, एक अवयव के साथ से शेष अवयव उसी प्रकार संविधानयुक्त हैं, अर्थात् यथोचित करणशील हैं, अपने-अपने योग्य कार्य कर रहे हैं, यह अर्थ है ।

गोपियाँ नृत्य में अनेक प्रकार से चारीकरण रूप अपने चरणों को धरने आदि समय में

सङ्गीत शास्त्र में कहे प्रकारानुसार जिस प्रकार भुजाओं का चलना अपेक्षित है, उसी प्रकार भुजाओं का चालन करती हैं।

इसी प्रकार चारीकरण भुजाओं के कम्पनादि व्यापार में जिस प्रकार का नेत्रों का व्यापार उचित है, उसी प्रकार नेत्रों का व्यापार कर रही हैं, इसी प्रकार चारीकरण नेत्र व्यापार में जिस प्रकार भ्रू व्यापार उचित है, उसी प्रकार भ्रू व्यापार हो रहा है, कारण कि भगवदीय परिकर परम अलौकिक है, अतः एक नृत्य से व्यापारित हस्त आदि अवयव के साथ शेष अवयव, भ्रूचरणादि रूप यथोचित विधान करणशील हैं, यह अर्थ हुआ।

यहां पर मन्द हास सहित सर्व ही कटाक्ष कहे हैं तथा भ्रुकुटि भेद कहे हैं।

यदि कहो कि पादन्यास तथा भुज चलाने आदि समय मे भ्रू प्रभृति के व्यापार कैसे होते हैं?

इस शंका का उत्तर देते कहते हैं ( तत्तद्रसेहृदयाविष्टे ) जिस समय अनेक प्रकार का रस हृदय में प्रविष्ट होता है, उस समय उक्त सर्वक्रियायें अपने आप ही होती हैं।

यहां पर इस प्रकार आशय है कि नृत्य में संयोग शृङ्गार का अभिनय किया जाता है, संयोग शृङ्गार का अभिनय संयोग की स्फूर्ति के बिना संभव नहीं होता है, इसलिये स्मरण किया जिस प्रकार का संयोग रस होता है, वह उसी क्षण में हृदय में प्रविष्ट हो जाता है, और फिर उसी प्रकार का व्यापार होता है।

गोपियों के हृदय में भगवान् का संयोग आविष्ट है, और वह भगवान् का संयोग सर्वगुण युक्त है, इसलिये गोपियों में सर्वगुण युक्त भगवान् का संयोग प्रविष्ट होने के कारण गोपियों के सर्व अवयव यथोचित विधान युक्त होते हैं, गोपियों के शरीर का कटि प्रदेशभङ्ग युक्त नवा है, और ऊपर का भाग परिवर्तनात्मक चारो तरफ घूमने वाला है।

रस के लिये मण्डल में अभिनिविष्ट गोपियों के सच्चिदानन्दरूप सर्व अवयवों में स्थित रस आनन्द अत्यन्त भ्रमण करने से एक हो जाता है।

अब प्रसिद्ध अर्थ कहते हैं ( परिवर्तनादिभिरेववा ) अथवा परिवर्तन-भ्रमण आदि करने से अन्तःस्थित रस का अनुभव होता है, अवयवों में स्थित रस एक नहीं होता है, इस प्रकार एव कार से पक्षान्तर कहा है, गोपियों के नृत्य करने से हिलते हुए कुचों में वस्त्र हैं, इस प्रकार सर्व प्रकार के कम्पनों का वर्णन किया है।

( कुण्डलैर्गण्डलोलैः ) गोपियों के गण्डस्थल में कुण्डल हिल रहे हैं, इससे सर्व ही शिर के भेदों को कह दिया है, शिर भेद ही वक्तव्य थे; फिर जो कुण्डलों का चलन निरूपण किया है, वह बिजुली की तरह शोभा के लिये कहा है, अर्थात् भगवान के गण्डस्थल में व्रजसुन्दरियों के कुण्डलों का संबंध होने पर श्याम तथा गौर प्रभा दोनों के मिलने से मेघों में विद्युत्छवि की तरह शोभा हो रही है।

मूल में 'गण्डलोलैः' यह शब्द सूचन करता है कि गोपियों के कुण्डलों की सर्वप्रभा भगवान् के गण्डस्थल के संबंध को प्राप्त होकर क्षीण-नष्ट हो गई, अर्थात् कुण्डलों का सौंदर्य गर्व चला गया, इसीसे गण्डस्थल को प्राप्त होकर कुण्डलों का चलन होता है।

यह बात युक्त भी है कि जो जिससे गुणों में न्यून होता है, वह उसके आगे ठहरता नहीं है, भगवान् के गण्ड-कपोलों में केवल रस है, अधर रस आदि की तरह कामादि सहित रस नहीं है, इसी से माता-पिता आदि भी कपोलों का चुम्बन करते हैं।

स्नेह वाले सभी लोगों का भोग्य रस भगवान् के गण्डस्थल में रहता है, इसलिये भगवान् के कपोलों में रस केवल सर्वसाधारण है, और अधर रस तो शृङ्गार रस वाली स्त्री के ही भोग्य है,

इस प्रकार के गण्डस्थल में रस नहीं है, इसीसे बाल्यभाव वाली गोपियां कपोलों का चुम्बन करती हैं, अतः कपोलों में रस साधारण है।

और गण्डस्थल में स्थित होकर कुण्डलों द्वारा अधर में जो पीने योग्य रस है, उसका प्रकाशन किया जाता है, इस बात को कहते हैं, कि पान करने योग्य अधर रस नृत्य में भगवान् के गण्डस्थल में स्थित होकर ही पिया जाता है, भगवान् के गण्डस्थल में बिजुली की तरह शोभा रस ही प्रकट करने के लिये है।

केवल रस नाट्य में प्रसिद्ध है, अतः नृत्य में लोभात्मक रस का ग्रहण करना असम्भव होने से केवल रस ही प्रकट करने के लिये भगवान् के गण्डस्थल में विद्योतन-शोभा का वर्णन किया है, अर्थात् भगवान् के गण्डों की शोभा देखती देखती गोपियां नृत्य करती हैं।

काम लीला में तो सब कहेंगे, इस प्रकार नृत्य करने में पश्चात् भीतर स्थित पुष्ट रस प्रकट होता है, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिये शुकदेवजी कहते हैं, ( स्विद्यन्मुख्यः ) नृत्य करते-करते गोपियों के स्वेदयुक्त-पसीना युक्त मुख हो गये, और केशपाश तथा कटिबंधन की गाठें शिथिल हो गईं, शरीर के सब अवयवों में स्थित रस-आनन्द एकत्रित हो गया, इसलिये देहसूक्ष्म हो गये थे, अतः केशपाश में तथा कटिबंधन में जो गाठें थीं, वे शिथिल हो गईं।

गोपियों की देह सच्चिदानन्द रूप है, इसलिये गोपियों की सब देह में आनन्द है, अब वह आनन्द देह के सर्व अवयवों से एक स्थान में आ गया है, इसलिये जिस जिस अवयव से आनन्द आया वह अवयव कृश हो गया, तब उस समय पहिले स्थूलता के अनुसार जो गाठें बांधी थीं, वे पीछे शिथिल हो गई हैं।

यदि शंका करो कि इस प्रकार का श्रम गोपियों को क्यों हुआ। इसके उत्तर में कहते हैं कि ( कृष्ण वध्वः )

गोपियां तो भगवान् की वधू हैं, अर्थात् सदानन्द फल रूप का उपभोग करने वाली हैं, उपभोग करना पुरुष धर्म है, पुरुष धर्म गोपियों में रस की अधिकता होने से आया है। अतः उपभोग रूप क्रिया में श्रम होता ही है, यह बात युक्त ही है।

गोपियां लौकिक जीवों की तरह केवल रस का ही अनुभव नहीं करती हैं, किन्तु मूर्तिमान आनन्द का क्रिया रूप उपभोग करती हैं, इस प्रकार मूलस्थ 'कृष्णवध्वः' इस शब्द का अर्थ कहा है।

गोपियां इस प्रकार श्रमित थीं, फिर भी भीतर सन्तोष के कारण गान करने लग गईं।

इस प्रकार शरीर आदि में श्रम होने पर भी गोपियां अति शोभा युक्त हुईं, कारण कि पहिले 'देवकीसुत' पद से कह आये हैं कि गोपियों में भगवान् ने अपना सामर्थ्य स्थापन किया, इससे शोभित हुई पादन्यास आदि से भी शोभित हुईं, इस प्रकार सुबोधिनी का 'अपि' शब्द सूचन करता है।

यदि कहो कि शोभा तो अन्य सापेक्ष-अर्थात् और लोग जब देखते हैं, तब जानी जाती हैं, तो फिर उस समय गोपियों की शोभा सब लोगों ने कैसे देखी। अर्थात् परस्पर एक की एक गोपी ने देखी, अथवा भावुक लोगों ने देखी, इसका प्रकार क्या है।

इस शंका के समाधान में शुकदेव जी कहते हैं कि ( तडित इव ताः ) गोपियों की शोभा बिजुली की तरह हुई।

बिजुली बहुत काल तक दर्शन योग्य नहीं होती है, वह तो मेघ समूह में केवल शोभा को ही संपादन करती है, उसी प्रकार कृष्ण-समूह में गोपियां, केवल शोभा संपादन करती थीं, जिस

प्रकार विजुली मेघों से आच्छादित रहती है कभी कभी क्षणिक दर्शन देती है, उसी प्रकार कृष्ण मेघसमूह में गोपियों का आच्छादन किया है, कभी कभी ही दोनों तरफ प्रकट कुछ अंश दृष्टि-गोचर होते हैं, इसलिये गोपियों की शोभा दोष देने वाली नहीं हुई, किन्तु विशेष ही-उत्तम ही हुई, इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ८ ॥

अब मूल सुबोधिनी में 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः कहा है, इस पर स्वतन्त्र लेख है, उसका अनुवाद कहते हैं कि—

भगवान् के भक्तिरूप मुखारविंद में दो प्रकार का रस है, एक केवल, और दूसरा काम-मिश्रित, उसमें गण्डस्थल में जो रस है वह है, केवल, काम उत्पन्न न होने पर भी केवल सौंदर्य के दर्शन मात्र से मुख में संयोग होता है, अतः मुख संयोग से पीने के योग्य है, इसीसे बाल लीला में गोपियां तथा माता आदि को भी चुम्बन आदि द्वारा प्राप्त होता है, प्रभु के नृत्य समय में कुण्डलों की कान्ति से प्रकाशित जो स्वामिनियों के कपोल हैं, उनमें सौंदर्य विशेष प्रकट है, उससे रस पान होताहै, अतः रस पान करने के लिये ही कुण्डलों द्वारा गण्डस्थल का प्रकाशन है, यह भाव है, काम लीला आगे कहेंगे, इस समय लोभ में स्थित-अर्थात् अधर में स्थित रस का ग्रहण नहीं है, अतः अधर रस का प्रकाश नहीं है, कारण कि नृत्य के मध्य में अधर रस पान करना संभव हो नहीं सकता है, लोभात्मक अधर में कामसहित भक्ति रस है, अतः कामसहित भक्तिरस के उत्पन्न होने पर ही अधर रस का पान संभव हो सकता है।

यदि शंका करो कि स्वामिनियों की तरह बाहु आदि में भी प्रभु की ही उस प्रकार की कृति हो, अतः कुण्डल प्रकाश भी प्रभु का ही हो।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गण्डस्थल में ही स्थित होकर पेय रस पिया जाता है, कारण कि 'स्विद्यन्मुख्यः' इसमें अन्तर्गत सर्वत्र अवयवों में स्थित रस का गोपियों के मुखों पर ही प्राकट्य निरूपण किया है, इससे पान संभव होता है, रस की स्पष्टता से मुखों में ही प्राप्ति है, इसलिये कपोलों में ही पान करने के लिये प्रकाशन है।

अथवा-पान करने योग्य यहां स्नेहरस है, स्नेहरस की कपोलों में ही समाप्ति है, हृदय से उत्पन्न स्नेह रस का मुख में ही पर्यवसान है, कारण कि स्नेह रस जिनमें प्रविष्ट है, उनके मुख के दर्शन मात्र से ही सकल मनोरथ की पूर्त्ति होती है।

कामोदय के हेतुभूत नृत्य में प्रथम काम का उदय न होने से स्नेह मात्र होता है, इससे कपोलों में ही रस पान है, अतः उस समय कुण्डलों द्वारा ही भगवान् के लिये गण्डस्थल का प्रकाशन है, आचार्यों ने जो, ( गण्ड एव ) इत्यादि कहा है, वह सब निर्दोष है ॥१.१३.१८।

**( सुबो० ) गाढनृत्यमुक्त्वा मध्यनृत्यमाह–उच्चैर्जगुरिति ।**

श्रीमहाप्रभुजी ने 'उच्चैर्जगुः' इस आगे के श्लोक में जो प्रथम व्याख्यान 'नृत्यमाना' इत्यादि से किया है, उसमें नृत्य को गौण कहा है, किन्तु 'अथवा' से जो द्वितीय व्याख्यान किया है, उसके अनुसार आभास में कहते हैं कि गाढनृत्य को कहकर अब आगे मध्य नृत्य कहते हैं, तथा पूर्व श्लोक 'गायन्त्यः' इस पद से गान गौण कहा है, और नृत्य मुख्य कहा है, अब आगे श्लोक में दोनों की समानता का वर्णन करते हैं।

**उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।**
**कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ ९ ॥**

**पदपदार्थ**—( रक्तकण्ठ्यः ) रञ्जक स्वरयुक्त कण्ठवाली ( रतिप्रियाः ) रति ही प्रिय जिनको है, ( कृष्णाभिमर्शमुदिताः ) कृष्णभगवान् के किये स्पर्श से मुख पोंछने आदि से आनन्दित हुईं ( नृत्यमानाः ) नाचती गोपियां ( उच्चैः ) ऊंचे स्वर से (जगुः) गान करती हुईं, ( यद्गीतेन ) जिन गोपियों के गीत से ( इदम् ) यह जगत् ( आवृतम् ) व्याप्त हो गया ॥ ९ ॥

**भाषार्थ**—रञ्जकस्वरयुक्त कण्ठवाली तथा रति ही प्रिय जिनको है, तथा कृष्ण भगवान् के लिये स्पर्श मुख पोंछने आदि से आनन्दित हुई नृत्य करती गोपियां ऊंचे स्वर से गान करती हुईं, जिन गोपियों के गान से जगत् व्याप्त हो गया ॥ ९ ॥

**( सुबो० ) नृत्यमाना नृत्यं कुर्वन्त्य एव उच्चैर्गानयुक्ता जाताः । अथवा आदावुच्चैर्जगुः । ततो नृत्यमाना नृत्यन्त्यो जाताः । उभयत्र हेतुमाह-रक्तकण्ठ्यो रतिप्रिया इति । रक्तः रञ्जकस्वरेण युक्तः कण्ठो यासामस्तीति । रतिरेव प्रिया यासामिति । गानेन व्यामोहनं नृत्येन च तासां प्रसिद्धम् । ननु पूर्वनृत्येन जातश्रमाः कथमेवं कृतवत्य इत्यत आह-कृष्णाभिमर्शमुदिता इति । भगवतः अभितो मर्शः प्रोञ्छनादिविशेषरूपः, तेन मुदिताः अन्तः पूर्णानन्दाः । इतरविस्मारणार्थं नादाधिक्यमाह यद्गीतेनेदमावृतमिति । यासां गीतेनेदं जगद् व्याप्तम् । अथवा लोकैः क्रियमाणेन यदर्थमेतन्नृत्यादिकम्, तत् सफलं जातमित्याह–यद्गीतेनेति । लोके रसप्राकट्यार्थमेवैतत् गीतेन एतत्प्रकाशकेन एतज्जगद् रसेन व्याप्तमित्यर्थः । लोके रसप्राकट्यार्थमेवैतत् कृतमिति । उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वाय भगवतापि नादः कृतः । स च मधुर एव कर्तव्यः । तेन च जगत् पूरणीयम् ॥ ९ ॥**

गोपियां नृत्य करती ही ऊंचे स्वर से गान करने लग गयीं अथवा प्रथम ऊंचे स्वर से गान किया, पश्चात् नृत्य किया है, नृत्य तथा गान दोनों में हेतु कहते हैं कि ( रक्तकण्ठचो रतिप्रियाः ) रक्त-रञ्जक स्वर से युक्त कण्ठ जिनका है, कारण कि रञ्जकस्वर को ही राग पदार्थता है, इसलिये यहां रक्तकण्ठ कहा है।

'योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः, रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथ्यते बुधैः।

जो यह ध्वनि विशेष स्वर वर्णों से विभूषित सब मनुष्यों के चित्तों का रञ्जन करने वाला है, वह जानकार लोगों के द्वारा 'राग' कहा जाता है, इस प्रकार संगीत शास्त्र में कहा है।

रक्त शब्द में कर्ता में क्त-प्रत्यय हुआ है, इसलिये रञ्जनयुक्त अर्थ कहा है, तथा रति ही प्रिय जिनको इस प्रकार की गोपियां हैं।

स्त्रियां गान से तथा नृत्य से व्यामोह करती हैं, यह बात प्रसिद्ध है, गोपियां रतिप्रिय हैं, इसलिये रति करने वाले भगवान् का व्यामोहन करने के लिये नृत्य करती हैं।

यदि कहो कि गोपियों ने पहिले जो नृत्य किया था, उस नृत्य से थक गई थीं, फिर इस प्रकार नृत्य कसे किया ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि ( कृष्णाभिमर्शमुदिताः ) भगवान् ने जो गोपियों का शरीर पोंछने आदि विशेष रूप क्रिया से स्पर्श किया है, उससे गोपियों के भीतर पूर्ण आनन्द प्राप्त हो गया है, इसलिये फिर नृत्य करने लग गईं।

इतर विस्मरण कराने के लिये, अर्थात् भगवान् को दूसरी नायिका के किये नाद का विस्मरण कराने के लिये, अपने युगल में स्थित भगवान् दूसरे युगल में किया नाद भूल जायें, इस भाव से नाद की अधिकता को शुकदेव जी कहते हैं, ( यद्गीतेनेदमावृतम् ) भगवान् सहित गोपियों के गीत से यह जगत् व्याप्त हो गया।

अथवा जिसके लिये यह नृत्य आदि किया, वह सफल हो गया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं, 'यद्गीतेन'।

लोगोंद्वारा किये गये गीत से-अर्थात् अत्यन्त अनुगृहीत इस लीला के मध्य पाति गोविददास प्रभृति लोगों द्वारा किया गीत भगवल्लीला का प्रकाश करने वाला है, उस रस से यह जगत् व्याप्त हो रहा है, यह अर्थ है, लोक में रस प्रकट करने के लिये ही इस प्रकार गान किया है, अर्थात् इस लोक में ही जीवों का आधिदैविक रूप प्रकठ हो करके भगवान् के रसका अनुभव करे, इसलिये गोपियों ने भगवत्सहित गान किया है।

गोपियों ने जो नाद प्रकट किया, उसको अमृतमय करने के लिये भगवान् ने भा नाद किया है, भगवान् ने जो नाद किया वह मधुर ही है, और उस गान से जगत् पूर्ण करना चाहिये, किन्तु स्वामिनियों को ही रस का अनुभव कराने के लिये भगवान् ने गान किया है।

**( सुबो० ) ततोऽघटमानमेतदिति तदर्थमाह—काचिदिति।**

फिर इस गान से जगत् पूर्ण करना घटता नहीं है, और भगवान् के आनन्द का अनुभव भी नहीं घट सकता है, इसलिये भगवान् के आनन्द से जगत् पूर्ण करने के लिये मुकुन्द भगवान् सहित गान के कथन मोक्ष के उपयोगी उपनिषद्रूप स्वामिनियों का निरूपण करते स्वरजाति का उन्नयन शुकदेव जी कहते हैं।

गान करने वाले उपनिषद् के श्रवण की तरह गोपियों का नाद श्रवण करे तो इनके हृदय में अन्य विषय प्रविष्ट नहीं होता है, पश्चात् भगवान् के मधुर नाद का भी श्रवण होता है, फिर भगवान् के आनन्द का अनुभव होता है अनन्तर गान में की भगवल्लीला का श्रवण करके अस्मदादि को भी फल प्राप्त होता है, इस प्रकार सब जगत् पूर्ण हो जाता है, यह सब गोपियों की कृपा से ही होगा।

'उत्पन्न नाद को अमृतत्व करने के लिये' इस विषय में प्रकाशकार दशदिगन्त विजयी श्री पुरुषोत्तम जी लिखते हैं, कि आहत, अनाहत भेद से नाद दो प्रकार का है, उसमें जो अनाहत नाद है, वह प्राण घोष रूप हैं, यह लोगों को रञ्जन करने वाला नहीं है, अर्थात् आनन्द देने वाला नहीं है, आहत नाद लोगों को आनन्द देने वाला है, उसके उत्पन्न का प्रकार शास्त्र में इस प्रकार है।

'आत्मा विवक्षमाणोयं मनः प्रेरयते मनः। देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोथ क्रमादूर्ध्वंपथे चरन्। नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम् ॥'
'नादोतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः। इति पञ्चविधा धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात् ॥
व्यवहारे त्वसो त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते। कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः ॥
तस्य द्वाविंशतिर्भेदाः श्रवणाच्छ्रुतयो मताः ॥'

आत्मा को जिस समय बोलने की इच्छा होती है, उस समय यह मन को प्रेरित करता है, मन देह में स्थित अग्नि को प्रेरित करता है, अग्नि वायु को प्रेरित करता है, ब्रह्म ग्रन्थि में स्थित वायु क्रम से ऊर्ध्व मार्ग में जाता हुआ, नाभि, हृदय, कण्ठ, मस्तक और मुख, इन स्थानों में ध्वनि

प्रकट करता है, उक्त नाभि आदि पाँच स्थानों में प्रकट हुआ नाद क्रम से अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट, कृत्रिम इस प्रकार पांच नाम धारण करता है, व्यवहार में तो यह नाद तीन प्रकार का है।

हृदय में मंद्र, कंठ में मध्य, मस्तक में तार नाम से कहते हैं, यह नाद उत्तरोत्तर द्विगुण दूना होता है, इसके २२ भेद हैं, श्रवण के कारण श्रुतियां मानी हैं।

इस प्रकार से उत्पन्न नाद रञ्जक-आनन्द देने वाला है, आसन्य प्राण का अंशनाद लोक में भी तुल्य है, इसलिये इस लौकिक नाद में अमृत की प्रचुरता नहीं है, वह नाद जिस समय आसन्य, आत्मा मूलरूप अपहत पाप्मा-पाप रहित पूर्ण होता है, उस समय यह अमृत प्राचुर्य होता है मूल में जो कहा है कि 'नादस्यामृतमयत्वाय' इसका अर्थ नाद को अमृत प्रचुरत्व करने के लिये भगवान ने गान किया, इस प्रकार जो कहा है, वह उक्त प्रकार से है।

यदि शंका करो कि स्वामिनियों ने जो गान किया है, उसको भगवान् ने अपने नाद द्वारा अमृतमय किया, तो भगवान् के नाद से अमृतमयत्व क्या, किस प्रकार से है।

इस प्रकार के जानने की इच्छा में श्री विट्ठलनाथ जी टिप्पणी में इसका आशय स्फुट करते हैं 'अत्रायं भावः' यहां यह भाव है, कि यह नाद लौकिक नहीं है, तथा पूर्व सिद्ध भी नहीं है, किन्तु अलौकिक तथा अपूर्व है।

यदि कहो तुमने जो कहा है, वह कैसे जाना जाता है। तो इस प्रकार की आकांक्षा में अलौकिकत्व, तथा अपूर्वत्व का कार्य द्वारा परिचय कराते हैं, 'स च' वह भगवान का भाव अन्य किसी में नहीं हो, केवल अपने ही में उत्पन्न हो, इसलिये प्रत्येक गोपी ने गान किया।

और यह नाद स्वामिनियों को भी कहें भाव के अनुसार भगवान् में विशेष भाव की उत्पत्ति होने पर रस का अनुभव कराने वाला होता है।

गोपियों का गान भगवान् के गान का मूल कारण है।

इस प्रकार गोपियों का गान दो कार्य करता है, एक तो भगवान् को गान करने के लिये प्रेरणा करता है, दूसरा कार्य सर्व जगत् में गान व्याप्त हो जाता है।

यह गोपियों के गान को अमृतमयत्व है।

गोपियों को जो भगवान् में भाव विशेष की उत्पत्ति होती है, वह भगवान् के नाद से मूल आसन्य प्राणरूप प्रकट होती है, इसलिये कार्य से गोपियों के नाद को अमृतमयत्व जानना चाहिये।

यदि गोपियों का नाद सामान्य हो, तो भगवान् उसका पोषण नहीं करे, इस तर्क से भी गोपियों का नाद अमृतमय है।

यदि शंका करो कि उस प्रकार से तो भगवान् के नाद की ही गोपियों के कार्य में प्रधानता आती है, स्वामिनियों के गान की कार्य में प्रधानता नहीं सिद्ध होती है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि स्वामिनियों के गान की ही प्रधानता है, इसको विशद करते हैं कि (अपरञ्च ) पृथक् पृथक् स्वर जाति के भेदों को ऊँचे ले जाने में गोपियां प्रधान हैं, और भगवान् गोपियों के साथ नाद करते हैं, इसलिये गौण हैं, इस प्रकार वर्णन मूल में करने से ज्ञात होता है कि गोपियों का नाद भगवान् के नाद की अपेक्षा मधुर है।

यदि गोपियों का नाद भगवान् के नाद की अपेक्षा मधुर नहीं मानते तो भगवान् के तार ऊँचे नाद से गोपियों के नाद को दब जाने से रसाभास हो जाये, और गोपियों का नाद करना व्यर्थ हो जाये।

और यदि भगवान् तथा गोपियां, दोनों का नाद समान हो, तो दोनों ही स्वतन्त्रता से नाद करें, इसलिये परस्पर अनुकूल न होने से दोनों नाद परस्पर रस में उपयोगी नहीं हों, और गोपियां स्वयं नाद का स्वरूप न जानकर भगवान के नाद को सुनकर भगवान् के सदृश नाद करें, तो भी पूर्वोक्त, परस्पर रस के उपयोगी नहीं हों, इसलिये भगवान् का विचारित क्रम स्वयं जानकर, उसी प्रकार स्वर के पृथक् पृथक् जाति भेदों को गोपियां ऊँचा ले गईं, इस प्रकार जानना चाहिये ।

भगवान में पूर्ण रस का उदय हुआ है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी तथा भगवान् गोपियों के अधीन हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये 'गोपियां प्रधान हैं, और भगवान् गौण हैं, इस प्रकार का कथन है, कारण कि नायिका, गोपियों का प्राधान्य होना, इस रस का स्वाभाविक रूप है, अतः उक्त प्रकार से स्वामिनियों के नाद को प्राधान्य होने से उसका ही वह कार्य है ।

तो फिर भगवान के गान का मुख्य कार्य क्या है ।

इसके उत्तर में कहते हैं कि इस प्रकार ऊँचे नाद से साध्य जगत् का पूर्ण होना है, मधुर नाद से जगत् पूर्ण नहीं होता है ।

अन्य धर्म निवृत्त होने पर ही भगवद्धर्म नाद से जगत्पूर्ण होता है, इसलिये जगत्पूर्ण करने के लिये भगवान् के इस स्वरूपका रस जानने वाली, तथा इस स्वरूप का निरूपण करने वाली गोपियां ही हैं, यह सिद्ध हुआ ।

जिस प्रकार 'तत्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' में उपनिषद में वर्णन किया जो पुरुष है, उसको पूछता हूँ । इस श्रुति के अनुसार वर्णन किया गया ही ब्रह्म का स्वरूप है, उसी प्रकार गोपियों से निरूपित धर्म वाला ही पुरुषोत्तम स्वरूप है, अन्य धर्म विशिष्ट नहीं है, इसलिये गोपियों का गान उपनिषद वाक्य रूप होने के कारण, इसके श्रवण ने भगवान् प्राकृत भाव रहित हैं, इस प्रकार का ज्ञान होता है, और नाद श्रवण से अपने में भगवान् का संबंध होने से अन्य धर्म राहित्य, अर्थात् विषयान्तर का अभाव तथा भगवान् के मधुर नाद का श्रवण होता है, श्रवण के अनन्तर फिर भगवान् के आनन्द का अनुभव होता है, यह सब प्रभु के गान के कार्य हैं, इस प्रकार भगवान् के गान से जगत् पूर्ण होता है, अतः सर्व योग्य है ।

**काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।**
**उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधु साध्विति ॥**
**तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ १० ॥**

पद पदार्थ—( काचित् ) कोई एक भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी ( अमिश्रिताः ) शुद्ध बिना मिली हुई ( स्वरजातीः ) स्वर जातियों को ( मुकुंदेन ) मुकुंद भगवान् के नाद के (समं) साथ ( उन्निन्ये ) ऊंचा ले गई । ( तेन ) स्वरजातियों को ऊंचा ले जाने से ( प्रीयता ) प्रसन्न भगवान् ने ( साधु, साधु ) अच्छा किया अच्छा किया (इति) इस प्रकार ( पुजिता ) प्रशंसा की अन्य किसी गोपी ने ( तदेव ) वही ऊंचा स्वर ( ध्रुवम् ) निश्चल जिस प्रकार हो उसी प्रकार ऊंचा ले गई अर्थात् उस नाद को ध्रुव नाद में योजित किया ( तस्यै ) उस ध्रुव नाद में योजन करने वाली गोपी के लिये भगवान् ने ( बहु ) सब गोपियों से अधिक ( मानं ) सम्मान ( अदात् ) दिया ॥१०॥

भाषार्थ—कोई एक भगवद्भाव को प्राप्त हुई गोपी शुद्ध अपने बिना मिले स्वर जाति भेदों को मुकुन्द-मोक्ष देने वाले भगवान् के नाद के साथ ऊंचा ले गई, इससे प्रसन्न हुए भगवान् ने बहुत अच्छा वहुत अच्छा इस प्रकार इस गोपी की प्रशंसा की, अन्य भगवान् के द्वितीय पार्श्व में स्थित गोपी ने उस ऊंचे स्वर को ध्रुव नाद के साथ-स्थायी स्वर के साथ योजित किया इसलिये भगवान् ने इसके लिये बहुत मान दिया है ॥१०॥

( सुबो० ) मुकुन्देन समं अमिश्रिताः स्वरजातीः काचिदुन्निन्ये । काचित् सम्यग् भगवद्भावं प्राप्ता । भगवतो नादकरणे हेतुः—मुकुन्देनेति । मोक्षदानार्थमेव उपनिषदि स्वनादं पूरितवान् । उभयोरेकता । नादे तुल्यता मोक्षे कार्यद्वयम् । पूर्वसङ्घातान्निवर्तनं ब्रह्मप्रापणं च । तदर्थमितरनिवारणार्थमुपनिषदामुपयोगः स्वराः षड्जादयः । तेषां जातिभेदाः । यथा मयूरः षड्जं वदति । तथा अन्येपि पक्षिणः मनुष्या अन्येऽपि जीवाः षड्जं वदन्ति, तथापि तेषामवान्तरजातिरस्ति । ते चेद्यथा क्रमेण यथा रसाभिव्यक्तिः यदभिप्रायेण सृष्टावुत्पादिताः तास्तथैव योजिताश्चेत्, तदा स्वरजातयः अमिश्रिताः भवन्ति । तद्भगवता कर्तुं शक्यम्, नान्येन । तासां चेदुन्नयनम्, तदा युक्त एव सन्तोषः । तदाह—पूजिता तेन भगवतेति । स्वस्य ब्रह्मत्वात् स्वविचारितानुपूर्वीति स्वस्य तथा गानं नाश्चर्यहेतुः । अन्ये तु तत्स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतः पुनः करिष्यन्तीति तेनैव पूजिता । किञ्च, कार्यमपि उन्नयनेन जातमिति । साधु साध्विति । प्रीयता प्रीतिं कुर्वता भगवता । स्वरूपतः फलतश्च साधुत्वाय द्विरुक्तिः । प्रीतिश्च तुल्यत्वात् सर्वथा कार्यानु गुणत्वात् । अन्या पुनः उन्नीतामेव यावद् भगवता पुनर्गृह्यते, तावत्तथैवोन्नयनं कृतवतीत्याह तदेवेति । तदेवोन्नीतं ध्रुवं निश्चलं यथा भवति, तथा उन्निन्ये । तं नादं ध्रुवनादे योजितवती । ध्रुवनादः कारणनादः स्थायी स्वरः । 'यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते ।' भगवन्नाद एव वा । ध्रुवतालादिषु योजित वतीति केचित् । तन्न विचारभगवता तथैवगीतमिति । भगवाँस्तस्यै बह्वेव सम्मानमदात् । चकारादभीष्टक्षमम् । एवं ध्रुवयोजनायां सामर्थ्यं जातमिति बहिः सामर्थ्यं किं वक्तव्यमितिमपि । एवं तासामन्तः सामर्थ्यं जातमिति बहिः सामर्थ्यं किं वक्तव्यमिति मपि । ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते निरूपिते । अन्याश्चतस्रः भावः । बह्विति सर्वगोप्यधिकम् । क्रमेण बोद्धव्याः ॥ १० ॥

कोई गोपी मुकुन्द के साथ बिना मिली हुई स्वर जाति को ऊंचा ले गई, 'काचित्' अर्थात् सम्यग् भगवद्भाव को प्राप्त हुई यह गोपी थी, और इस स्वर जाति को मैं ऊंची ले जाऊंगी इस प्रकार भगवान् के आशय को यह जानती थी ।

नाद सर्व साधारण है, भगवान् के विचारित क्रमानुसार इस गोपी को ही ऊंचा करना है, इस प्रकार का भाव है ।

भगवान् ने जो नाद किया है उसका हेतु शुकदेव जी कहते हैं ( मुकुन्देन ) मोक्ष देने के लिये ही, अर्थात् आधिदैविक रूप प्रकट करके औरों को भगवान् का भजन करने के लिये तथा स्वामिनियों को भगवद्विषयक भाव उत्पन्न करके रस का अनुभव कराने के लिये उपनिषद में,-स्वामिनियों के नाद में भगवान् ने अपना नाद पूर्ण किया ।

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' जहां पर द्वैत की तरह होता है, वहां दूसरा दूसरे को देखता है, किन्तु जहां तो ब्रह्मवेत्ता का सर्व आत्मा ही हो गया है, वहां फिर किस से कौन को देखे, किस से कौन को जाने, इत्यादि श्रुति से जिस प्रकार मोक्ष में ब्रह्म मात्र की ही एक स्फूर्ति होती है, उसी प्रकार गोपियों की भगवान् ने अपने में ही आसक्ति सम्पादन करके केवल श्रृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्त्ति व्रजसुन्दरियों को जिस प्रकार से हो, उस प्रकार का उपाय करने की भगवान् की इच्छा है, वह उपाय भगवान् का नाद है, नाद से ही परम आनन्द उत्पन्न होता है, और उससे इतर पदार्थ की विस्मृति हो जाती है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है, इससे यह सिद्ध हुआ कि श्रृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्ति ही मोक्षपदवाच्य है, अर्थात् इसको मोक्ष कहते हैं, तो यहां जो मूल में ( मोक्षदानार्थं ) इस प्रकार कहा है, उसका अर्थ यह होता है कि मोक्ष देने के लिये, अर्थात् श्रृङ्गार रसात्मक कृष्ण की अद्वैत स्फूर्ति के लिये उपनिषद में गोपियों के नाद में भगवान ने अपना नाद किया ।

व्रज सीमन्तिनियों ने जो नाद किया, वह यहां उपनिषद पदवाच्य है, कारण कि स्वामिनियोंका नाद भगवान् के स्वरूप का प्रकाशक है, तथा स्वामिनियों का नाद रसात्मक प्रभु के स्वरूप का ही गान करता है, जिस प्रकार का प्रभु का स्वरूप गोपियां गान करती हैं, उसी प्रकार का प्रभु का स्वरूप है, कारण कि प्रभु का स्वरूप केवल गोपियां ही जानती हैं, इसलिये उपनिषद रूप स्वामिनियों के नाद में भगवान् ने अपना नाद पूर्ण किया, यह अर्थ सिद्ध है ।

गोपियों का नाद तथा भगवान् का नाद, दोनों एक हैं ।

मोक्ष रूप एक कार्य करने के कारण दोनों नादों में तुल्यता है ।

मोक्ष में दो कार्य होते हैं, पहिले देह आदि संघात में से निवृत्ति करनी, और ब्रह्म प्राप्ति करानी ।

पहिला कार्य गोपियों के नाद से होता है, और दूसरा कार्य भगवान् के नाद से होता है ।

व्रज-सुंदरियों के किये भगवद्-गुण-गान श्रवण करने वाले को पूर्व संधान से निवर्तन, और ब्रह्मप्राप्ति होती है, इसी बात को कहते हैं कि उक्त कार्य सिद्ध करने के लिये, तथा भगवान् से इतर सर्व पदार्थों को दूर करने के लिये उपनिषद्-रसात्मक श्री कृष्ण-स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली व्रज-सुन्दरियों के किये नाद का उपयोग है ।

स्वर, षड्ज आदि सात हैं ।

'स्यातां निषादगान्धारौ द्विश्रुती धैवतर्षभौ ।
त्रिश्रुती वेदश्रुतयः षड्जमध्यमपञ्चमाः ।।
मयूर-चातकच्छाग-क्रौञ्च-कोकिल-दर्दुराः,
गजश्च सप्त षड्जादीन् क्रमादुच्चारयन्त्यमी ।।'

षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, और निषाद, ये सात स्वर हैं, निषाद तथा गांधार में दो श्रुति हैं, धैवत् तथा ऋषभ में तीन श्रुति हैं, षड्ज, मध्यम तथा पञ्चम में चार श्रुति

---

हैं, इन सात स्वरों का उच्चारण पृथक् पृथक् है, मोर का स्वर और षड्ज स्वर एक सा है, मोर षड्ज स्वर का उच्चारण करता है, चातक पक्षी ऋषभ स्वर का उच्चारण करता है, बकरी गांधार का उच्चारण करती है, मेढक धैवत स्वर का उच्चारण करता है, हाथी निषाद स्वर का उच्चारण करता है, स्वरों की सात शुद्ध जातियां, और ग्यारह मिश्र जातियां हैं, इनके जातिभेद हैं ।

जिस प्रकार मोर षड्ज स्वर बोलता है, उसी प्रकार अन्य पक्षी, मनुष्य, अन्य जीव भी षड्ज स्वर बोलते हैं, तो भी स्वरों की अवान्तर-भीतर जातियां होती हैं, ब्रह्मा ने स्वरों को क्रम से सृष्ठि समय में जिस प्रकार रस की अभिव्यक्ति हो, उस प्रकार के अभिप्राय से उत्पन्न किया है, वे स्वर उसी प्रकार से यदि व्यवहार में लाये जाते हैं तो स्वर जातियां अमिश्रित-बिना मिलीं शुद्ध होती हैं, यह कार्य भगवान् कर सकते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता है ।

गोपियां यदि स्वर जातियों को ऊँचा करें तो भगवान् को संतोष होना योग्य ही है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं ( पूजिता तेन भगवता ) भगवान् ने स्वर जाति को ऊँचा ले जाने वाली गोपी का सम्मान किया ।

भगवान स्वयं ब्रह्म है, इसलिये अपने विचारित क्रम से यदि स्वयं गान करें तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु अन्य तो इसका स्वरूप भी नहीं जानते हैं, फिर गान कैसे करें, अथवा इनका पूजन कैसे करें, इसलिये भगवान् ने ही पूजन किया, और भगवान् का गोपियों में भाव उत्पन्न करने का कार्य भी स्वर ऊँचा करने से संपन्न हो गया । इस बात को सूचन करने के लिये शुकदेव जी कहते हैं । (साधु साधु प्रीयता) ।

प्रीति करते भगवान् ने 'साधु साधु', बहुत अच्छा बहुत अच्छा, इस प्रकार कहा, स्वरूप से तथा फल से गोपियां साधु हैं, इस बात को कहने के लिये मूल में साधु शब्द का दो बार प्रयोग किया है ।

भगवान् गोपियों के ऊपर प्रसन्न हुए, इसका कारण यह है कि गोपियां तुल्य हैं, और सर्वथा कार्य के अनुकूल हैं ।

द्वितीय पार्श्व में दूसरी तरफ स्थित अन्य गोपी तो फिर प्रथम गोपी द्वारा ऊँचा किया स्वर जब तक भगवान् फिर ग्रहण करे, तब तक उसी प्रकार से ऊँचा करती हुई, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं ( तदेव ) ।

वही स्वर ऊँचा किया ध्रुव निश्चल जिस प्रकार से होता है, उसी प्रकार अन्य गोपी ले गई, अर्थात् उस नाद को ध्रुव नाद में योजित किया ।

ध्रुवनाद, यह कारण नाद है, इसलिये स्थायी स्वर है ।

'यत्रोपविशते रागः स्वरः स्थायी स कथ्यते ।

जिसमें राग रहता है, वह स्वर स्थायी कहलाता है ।

'गानक्रिया वर्णसंज्ञया सङ्गीते व्यवह्रियते । गानक्रियोच्यते वर्णः स चतुर्धा निरूपितः ।। स्थाय्यारोह्यवरोही च संचारीत्यथ लक्षणम् ।।'

'स्थित्वा स्थित्वा प्रयोगः स्यादेकैकस्य स्वरस्य यः । स्थायी वर्णः स विज्ञेयः' संगीतशास्त्र में गान क्रिया को वर्ण कहते हैं, वर्ण चार प्रकार का है, स्थायी, आरोही, अवरोही, और संचारी, एक एक ही स्वर का ठहर ठहर कर प्रयोग जहां हो उसको स्थायी वर्ण कहते हैं ।

स्थायी वर्ण का इस प्रकार दूसरा लक्षण है, फिर इस गान में किस प्रकार का स्थायी है। यह संदेह हो तो श्री महाप्रभु जी पक्षान्तर कहते हैं ( भगवन्नादएव वा ) अथवा भगवान् का नाद है।

'चतुर्विधाः स्वरा वादी संवाद्यथ विवाद्यपि ।
अनुवादीति वादी तु प्रयोगे बहुलः स्वरः ॥
श्रुतयो द्वादशाष्टौ च ययोरन्तरगोचराः ।
मिथः संवादिनौ तौस्तौ निगावन्यविवादिनौ ॥
रिधयोरेव वा स्यातां तौ तयोर्वा रिधावपि ।
शेषाणामनुवादित्वं वादी राजात्र गीयते ॥
संवादी त्वनुसारित्वादस्या मान्योऽभिधीयते ॥'

स्वर चार प्रकार के हैं, वादी, संवादी, विवादी और अनुवादी, इनमें वादी स्वर राजा है, संवादी स्वर वादी के अनुसार होने से अमान्य है, इस प्रकार सङ्गीत शास्त्र में निरूपण किया है।

भगवान् का नाद वादी है और वह राजा होने के कारण ध्रुव है, इसमें ही संवादी नाद स्वामिनियों ने योजन किया है, इसमें हेतु कहते हैं कि ( भगवता तथैव गीतम् ) जिस प्रकार के नाद में स्वामिनी नाद का योजन होता है, उसी प्रकार का नाद भगवान् ने गान किया है, ( तदेव ध्रुव मुन्निन्ये ) इस वाक्य का अर्थ कितने ही टीकाकार इस प्रकार करते हैं कि गोपियों ने ध्रुव ताल आदि में अपना नाद योजन किया है, किन्तु उक्त अर्थ विचार से क्षम नहीं है, अर्थात् पूर्वापर का विचार करने से सङ्गत नहीं होता है, कारण कि इस प्रकार का अर्थ मानेंगे तो ध्रुव ताल आदि में अपना गान योजन करना यह कार्य गोपियों का सुकर-सरल है, कठिन नहीं है, फिर गोपियों का जो सम्मान भगवान् ने किया, उसका कारण न होने से ( तस्यै मानं च बहुदात् ) भगवान् ने गोपी के लिये बहुत मान दिया, इस ग्रंथ की सङ्गति नहीं होगी, और यदि अन्य टीकाकार के अनुसार अर्थ माना जाये तो मूल में 'ध्रुवे उन्निन्ये' इस प्रकार सप्तमी कहते। अतः अन्य टीकाकारों का अर्थ विचार क्षम नहीं है।

इस प्रकार स्वामिनी ने ध्रुव में जब अपना नाद योजन किया, तब भगवान् ने उसका बहुत सम्मान किया, और उसको अभीष्ट-इच्छित वस्तु का दान दिया, इस प्रकार अर्थ मूल श्लोक में च कार से सूचित हुआ है।

इस प्रकार गोपियों के भीतर सामर्थ्य भगवान् ने दिया, फिर बाहर सामर्थ्य देने की बात कही, यह कहना चाहिये, यह भाव है।

बहु—अर्थात् सब गोपियों से अधिक सामर्थ्य का दान दिया, इस प्रकार ऐश्वर्य, तथा वीर्यरूप दो गोपियों का वर्णन किया है।

भगवान् ने अपने धर्म दोनों अयोगोलक न्याय से अर्थात् अग्नि में जिस प्रकार लोहे का गोला अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् ने ऐश्वर्य, वीर्य दोनों धर्म स्थापित किये हैं, चकार से उपनिषद्रूप भी स्थापन किया है।

( काचित्समं मुकुन्देन ) इसमें जिस गोपी का वर्णन किया है, उसमें भगवान के ही द्वारा ऊँची ले जाने वाली जो स्वर जाति है, उसको ऊँची ले जाने की सामर्थ्य है, इसलिये इस गोपी में ऐश्वर्य है, कारण कि ईश्वर के तुल्य कार्य किया है।

---

'तदेव ध्रुवमुन्निन्ये' इस श्लोक में जिस गोपी का वर्णन किया है, उसमें भगवान का वीर्य धर्म है, कारण कि ऊँची की गई ही स्वर जाति जब तक भगवान् फिर ग्रहण करें तब तक पहिले से ही इस गोपी ने स्वर जाति को ऊँचा कर दिया, भगवान् के वीर्य बिना भगवान् से पहिले किसी का भी सामर्थ्य नहीं है, जो स्वर जाति का उन्नयन कर सके, भगवद्धर्म वीर्य इस गोपी में स्थित है, इसी से इसने उन्नयन किया है, यह बात स्वीकार करनी चाहिये। शेष चार धर्म कीर्ति श्री, ज्ञान तथा वैराग्य, ये गोपियों में स्थापित किये हैं, अर्थात् ये गोपियां तत्तद्धर्म रूप हैं, इसका वर्णन क्रम से ११ से १४ तक चार श्लोक में किया है ॥ १० ॥

( सुबो० ) कीर्तिर्हि भगवन्तमेवावलम्बते । अतः कायिकं व्यापारं द्वयोराह—काचिदिति ।

रासक्रीडा में भगवान् के साथ प्रथम युगल का वाचिक व्यापार-गान कहा, अब ग्यारह तथा बारहवें श्लोक में कायिक व्यापार का वर्णन करते हैं, इस श्लोक में द्वितीय युगल का कायिक व्यपार श्री शुकदेव जी कहते हैं, उसमें 'श्री' का कायिक व्यापार प्रसिद्ध है, इसलिये श्री रूप ही स्वामिनी का कायिक व्यापार भगवान् में कहना चाहिये, कारण कि कीर्त्ति भी भगवान् का ही अवलम्बन करती है, इसलिये कायिक व्यापार कीर्ति तथा श्रीरूप जो दो स्वामिनी हैं, उनका दो श्लोकों से कहते हैं।

**काचिद्रासपरिश्रान्ता पार्श्वस्थस्य गदाभृतः ।**
**जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥ ११ ॥**

**पदपदार्थ**—( काचित् ) कोई एक स्वामिनी (रासपरिश्रान्ता) रास से अत्यन्त थकी ( श्लथद्वलयमल्लिका ) शिथिल हुई वलय-कङ्कणाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी ( पार्श्वस्थस्य ) समीप में स्थित ( गदाभृतः ) गदा धारण करने वाले भगवान् के ( स्कंधं ) कंधे को ( बाहुना ) अपने हस्त से ( जग्राह ) ग्रहण करती हुई ॥ ११ ॥

**भाषार्थ**—कोई एक स्वामिनी रास से अत्यन्त श्रमित तथा शिथिल हुई वलयाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी, वह समीप में स्थित गदाभृत भगवान् के कंधे को अपनी बाहु से ग्रहण करती हुई ॥ ११ ॥

( सुबो० ) रासेन परितः श्रान्ता स्वस्यैकस्मिन् पार्श्वे विद्यमानस्य स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह । गदाभृत इति भगवतः स्थिरत्वाय । अधिकप्रयत्ने अन्यथा क्रियमाणे रासो भज्येत । परिश्रमो रसाधिक्यात् । अन्यथा रसार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् । मण्डलपरित्यागे मण्डलसिद्ध्यर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति । अत एकस्मिन्पार्श्वे भगवानेव । पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षाधिरूढालिङ्गनं भवति । भगवता पूर्वं कण्ठे सा गृहीता, तयापि भगवान् गृहीत इति मित्रवत् स्थितिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह श्लथद्वलयमल्लिकेति । श्लथन्ती वलयाकारा मल्लिका यस्याः । कबरे वलयाकारेण मल्लिकामाला बद्धा । सा च शिथिला जातेति वैकल्यं प्रदर्शितम् । आप्तता च प्रदर्शिता ॥ ११ ॥

कोई गोपी रास से अत्यन्त थकी अपने एक पार्श्व में-एक तरफ में विद्यमान भगवान का कन्धा गला अपनी बाहु से ग्रहण करती हुई, गदाभृत अर्थात् गदा को धारण करने वाले भगवान की स्थिरता के लिये कंधे को अपनी भुजा से पकड़ लिया ।

भगवान् गदाभृत् हैं, इसलिये रास में श्रमित होने पर स्थिति करने के लिये कदाचित् गदा का स्मरण करें तो इस शंका से इस गोपी ने स्वयं ही भगवान् को रोकने के लिये अपनी भुजा से भगवान् का कंधा गला पकड़ लिया ।

कभी भगवान् गदा को आधार बनाकर खड़ा होता है. और कभी चलता है । रास क्रीडा में भगवान् का चरण जिस प्रकार इधर-उधर डगमग नहीं हो, तथा जिस प्रकार पहिले मण्डल तथा नृत्य हो रहा था, उसी प्रकार होता रहे, इस प्रकार भगवान का कंधा ग्रहण कर लिया है ।

यदि कहो कि श्रान्त गोपी का स्थिर भगवान् में अपना भार धरना आदि ही थकावट दूर करने के लिये कहना चाहिये, कंधे मात्र का ग्रहण नहीं कहना चाहिये ।

इस शंका का समाधान करते कहते हैं ( अधिक प्रयत्ने ) भगवान् परिश्रम में स्थिति करने के लिये गदा से अधिक प्रयत्न करे तो रासभङ्ग हो जाये, कारण कि गोपी को परिश्रम रस की अधिकता से है ।

यदि कहो कि रस की अधिकता से ही उत्पन्न श्रम है, इसमें क्या गमक है । इस प्रकार प्रश्न में गमक कहते हैं कि, 'अन्यथा रसार्थं' परिश्रम की स्थिति में फिर गोपी की रस के लिये प्रवृत्ति नहीं होती ।

यदि गोपी को परिश्रम शरीर के क्लेश से उत्पन्न होता तो फिर गोपी बैठने आदि का प्रयत्न करती, स्कंध ग्रहण नहीं करती ।

यदि कहो कि जब गोपी ने भगवान् का अपने हस्त से स्कंध ग्रहण कर लिया तब हस्त छूटने पर मण्डल भङ्ग हो जाने के कारण रास भी भङ्ग हो गया होगा ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि उक्त दशा में तथा नृत्य के आवेश से कदाचित् स्वामिनी का हस्त छूट जाये तो मण्डल की सिद्धि के लिये भगवान भी स्वामिनी के हस्त स्थान में अपने हाथ से ग्रहण कर लेते हैं, अर्थात् भगवान भी स्वामिनी का हाथ पकड़ लेते हैं ।

उस समय पास में भगवान ही हैं, भगवान से व्यवहित-बीच में स्वामिनी नहीं है, इसलिये एक तरफ में भगवान ही हैं ।

पार्श्व भाग में विद्यमान भगवान का कण्ठ ग्रहण करने से 'वृक्षाधिरूढ' नाम का आलिङ्गन होता है, रसशास्त्र में इसका लक्षण कहा है कि—

'रमणचरणमेकेनोरुणाक्रम्य स्विन्नश्वसितमपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम् । निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती' ४।६।१

जिस प्रकार मनुष्य वृक्ष ऊपर क्रम से उसकी शाखा को चरण से दबा कर चढ़ जाता है, उसी प्रकार नायिका अपने नायक के चरण को एक जंघा से दबा कर दूसरे चरण से नायक की ऊरू पर आश्रय करती अपनी एक भुजा को पीठ पर रखती है, इत्यादि प्रकार के आलिङ्गन को वृक्षाधिरूढालिङ्गन कहते हैं ।

इस अध्याय के तीसरे श्लोक में 'द्वयोर्द्वयोः प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे' इत्यादि से कहा है कि भगवान ने पहिले गोपियों का कण्ठग्रहण किया था, इस गोपी ने भी भगवान का कण्ठ ग्रहण किया ।

एक हस्त से ग्रन्थि स्थापन की, और दूसरे हस्त से कंधा-गला पकड़ लिया, इस प्रकार दोनों का सामुख्य हो गया, यह जानना चाहिये ।

यह प्रकार दूसरी स्वामिनी की स्थिति में नहीं बन सकता है, पास में भगवान ही हैं ।

यदि कहो कि फिर दोनों की मित्र की तरह स्थिति हो गई क्या ?

इस शंका का निवारण करते शुकदेव जी कहते हैं कि 'श्लथद्वलयमल्लिका' शिथिल हुई वलयाकार-कङ्कणाकार मल्लिका के पुष्पों की माला जिसकी, इस प्रकार की गोपी की दशा हो गई ।

इस गोपी ने कवर में-शिरः प्रान्त शिखा में कङ्कण के से आकारवाली-अर्थात् गोलाकार मल्लिका के पुष्पों की माला बांधी थी, वह माला शिथिल हो गई ।

इस प्रकार गोपी का वैकल्य प्रदर्शन किया, तथा आप्तता दिखाई है ।

चोटी को पकड़कर चुम्बन रस के अतिमाद में होता है, इसलिये भगवान् ने गोपी का उक्त प्रकार से चुम्बन किया, अतः मल्लिका की माला शिथिल हो गई, इस प्रकार महा रस के दान से आप्तता यह गोपी मेरी आप्त श्रेष्ठ है, इस प्रकार आप्तता दिखाई है. इसीसे अङ्गुलियों से पुष्पों की ही शिथिलता हुई, माला की नहीं हुई, यह भाव है ।

अथवा शुकदेवजी ने जिस प्रकार भगवान् ने लीला की उसको उसी प्रकार देखकर वर्णन करके अपनी आप्तता दिखाई है,

अथवा क्रीडा में नायिका, तथा नायक परस्पर अपना ही उत्कर्ष करते हैं, अपने श्रम का वर्णन नहीं करते हैं, यहां तो इस गोपी ने भगवान् का कण्ठ ग्रहण किया है, इससे क्रीडामें श्रम ज्ञापित होता है, उत्कर्ष ज्ञापित नहीं होता है, किन्तु जो अपना इष्ट होता है, उसका अवलंबन-आश्रय किया जाता है, इस प्रकार भगवान् में आप्तता तथा स्वेष्टता, अर्थात् भगवान् मेरा आप्त, तथा इष्ट है, यह बात गोपी ने दिखाई है, यह भाव है ॥ ११ ॥

तत्रैकांसगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।
चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥

**पदपदार्थ**—( तत्र ) उसी समय में ( एका ) अन्य गोपी ( अंसगतं ) अपने कंधे पर धरा ( उत्पलसौरभम् ) कमल की अपेक्षा अधिक सुगन्ध युक्त ( चंदनालिप्तम् ) चंदन से समग्र-लिप्त ( कृष्णस्य ) कृष्ण के ( बाहुं ) बाहू को ( आघ्राय ) सूंघकर ( हृष्टरोमा ) भीतर प्रविष्ठ आमोद पूर्णानन्द होती रोमाञ्चयुक्त ( बाहुमेव ) बाहू को ही ( चुचुम्ब ) चुम्बन करती हुई ( ह ) आश्चर्य में ॥ १२ ॥

**भावार्थ**—उसी समय अन्य गोपी अपने कंधे पर धरा, कमल की अपेक्षा अधिक गंधयुक्त, और चंदन से समग्र लिप्त श्रीकृष्ण के बाहू को सूंघकर भीतर प्रविष्ट हुए आमोद पूर्णानन्द होती रोमाञ्चयुक्त बाहु का ही चुम्बन करती हुई ॥ १२ ॥

( सुबो० ) अन्या पुनः स्वस्य एकांसगतं बाहुं उत्पलापेक्षया अधिकपरिमलयुक्तं चन्दनेनालिप्तं बाहुमाघ्राय अन्तःप्रविष्टामोदा पूर्णानन्दा सती हृष्टरोमा बाहुमेव चुचुम्ब । रूपस्पर्शौ पूर्वमेव स्थितौ । गन्धरसयोरप्यनुभवं कृतवतीति । हेत्याश्चर्ये । तत्रेति । तस्मिन्नेव समये, तत्रैव भगवति वा । उभयपार्श्वस्थयोर्गोपिकयोस्तथा सति विनियोग उक्तो भवति । एकांसगतमिति वा । सैव तथा

कृतवतीति केचित् । सदानन्दत्वात् सर्वत्रैव समरसता । उत्पलं हि रात्रिविकासि । तत् स्त्रीणां मनोज्ञम् । आघ्राणे चन्दनजसौरभमेव न हेतुः, किन्तु ततोऽपि विलक्षणं साधारणजनावेद्यं तदपेक्षयापि सौरभयुक्तत्वेनात्यलौकिकभाववतीनामेव वेद्यम् । सहजसौरभमित्यपि ज्ञापनायेदं विशेषणम् । चन्दनालेपः विवेकधैर्यनाशनार्थः । घ्राणेनान्तः प्रवेशनमस्या विशेषः । एषा श्रीरूपा ॥ १२ ॥

भगवान् के द्वितीय पार्श्व में-दूसरी तरफ में स्थित अन्य गोपी फिर अपने एक कन्धे पर प्राप्त हुई कमल की अपेक्षा से भी अधिक सुगन्ध युक्त, चन्दन से समस्त लिप्त हुई भगवान् की बाहू को सूंघ करके भीतर प्रविष्ट आमोद-पूर्णानन्द होती, रोमाञ्चयुक्त शरीर जिसका इस प्रकार की भगवान् की बाहू का ही चुम्बन करती हुई ।

इस गोपी को रूप तथा स्पर्श पहिले ही से थे, अर्थात् भगवान् तथा भगवान् के रूप का दर्शन तथा श्री अङ्ग का स्पर्श पहिले ही से था, इस समय गन्ध रस का भी अनुभव करती हुई, 'ह' शब्द आश्चर्य अर्थ में है ।

मूल में 'तत्र' कहा है, इसका अर्थ उसी समय में, अथवा भगवान में, अनुभव किया होता है ।

इन दोनों तरफ की गोपियों का काल भेद से विनियोग है, अतः पार्श्व में भगवान् ही है, इस प्रकार पूर्व कहे से विरोध नहीं है ।

'तास्मिन्नेव समये' उसी समय में ही दोनों तरफ की गोपियां अनुभव करती हुईं, यदि इस प्रकार अर्थ करें तो इस पक्ष में तो भगवान् के अनुभाव से ही जिस प्रकार द्वितीय युगल में स्थित भगवान् का दर्शन नहीं होता है, उसी प्रकार अन्योन्य का भी दर्शन नहीं होता है, यह जानना चाहिये ।

इस प्रकार भगवान् का श्री हस्त सूंघने वाली तथा चुम्बन करने वाली गोपी भिन्न भिन्न हैं, और प्रथम श्लोक में कही बाहू से भगवान् के कंधा-गले को ग्रहण करने वाली गोपी भिन्न है, इस प्रकार भगवान् के दोनों तरफ की गोपियों का विनियोग कहा है ।

कितने ही टीकाकार मानते हैं कि इस श्लोक में जिसका वर्णन किया है, वह गोपी और प्रथम श्लोक में कही गयी गोपी दोनों एक हैं, भिन्न नहीं हैं ।

यदि इस प्रकार को मान लिया जाये तो दोनों तरफ स्थित गोपियों का विनियोग नहीं कहते, प्रथम श्रीमहाप्रभुजी ने 'एकांसगतम्' इस पद में एक समास मानकर अर्थ किया अब 'एका' इस प्रकार प्रथमा विभक्ति स्वीकार करके अर्थ कहते हैं कि अथवा तो एक गोपी कंधे ऊपर प्राप्त भुजा को सूंघती हुई, इस प्रकार अर्थ करना चाहिये ।

( सैव तथा कृतवतीति केचित् ) अब कोई टीकाकार कहते हैं कि प्रथम श्लोक में जिस गोपी का वर्णन किया है, उसी ने इस श्लोक में भगवान् की बाहू सूंघकर चुम्बन किया है ।

यदि यह बात मान लेते हैं तो कीर्त्ति तथा श्रीरूप से जो दोनों गोपियों का भेद निरूपण किया है, वह बाधित होता है, इसलिये अन्य टीकाकारों का मत श्रीमहाप्रभुजी को संमत नहीं है, इस प्रकार सुबोधिनी में 'केचित्' पद सूचन करता है ।

चुम्बन से रस का आस्वाद होता है, कदाचित् यह शंका करो कि अधर में रस होता है, बाहू में रस नहीं होताहै, फिर इस गोपी ने भगवान् की बाहू का चुम्बन क्यों किया ।

इस शंका को दूर करने के लिये श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि कृष्ण-सदानंद है, इसलिये इसके सर्वत्र ही श्री अङ्ग में रसत्व है ।

उत्पल नाम का कमल रात्रि में खिलता है, और वह स्त्रियों को बहुत अच्छा लगता है ।

इस गोपी ने भगवान् की बाहु को सूंघा, इसका कारण चंदन की सुगन्ध ही नहीं है, किन्तु चन्दन की सुगन्ध से भी विलक्षण जिसको साधारण मनुष्य नहीं जान सके, इस प्रकार की है, और वह चंदन की सुगन्ध की अपेक्षा भी सुगन्ध युक्त है, अतः जिसमें अत्यन्त अलौकिक भाव हो, वही इसको जान सकता है भगवान् के श्री हस्त में स्वाभाविक सौरभ है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये भी 'चंदनालिप्तम्' यह विशेषण कहा है ।

भगवान् के श्रीहस्त में जो चन्दन का आलेप है, वह विवेक तथा धैर्य नाश करने के लिये है ।

भगवान् के श्री अङ्ग में अङ्गराग अनुभावात्मक है, इसलिये प्रचुरभाव विशेष उत्पन्न करता है, इससे विवेक तथा धैर्य का नाश करता है ।

बाहु का चुम्बन करना लोक में प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये सखियों के सामने में बाहु का चुम्बन क्यों करूं, इस प्रकार का विचार विवेक है, और भगवान् के साथ एकान्त समय मिलने की प्रतीक्षा करके स्थितिका नाम धैर्य कार्य है, आघ्राण कार्य सर्व गोपियों में समान है, फिर इस गोपी में सूंघने से भीतर आनन्द का प्रवेश होना विशेष है, यह गोपी श्री रूप है ॥१२॥

(सुबो०) कयाचिद्भगवद्गृहीतताम्बूलं ज्ञानवद्गृहीतमित्याह कस्याश्चिदिति ।

किसी गोपी ने भगवान् द्वारा ग्रहण किया ताम्बूल-पान को ज्ञानवान् की तरह ग्रहण किया यह स्वामिनी प्रथम अध्याय में 'काचिदञ्जलिना' भा.१०।२९।५ इस श्लोक में कही हुई स्वामिनी से भिन्न है, इसी बात को ज्ञापन करने के लिये आभास में 'गृहीतं' कहा है ।

यदि इस बात को नहीं मानते तो मूल श्लोक में जो 'प्रादात्' दान किया, इस प्रकार जो कहा है, उससे विरोध आता है ।

पूर्व अध्याय २९ में 'काचिदञ्जलिना' इस श्लोकमें जो ताम्बूल का वर्णन किया है, वह ताम्बूल भगवान् के लिये श्री ने समर्पण किया है, और इस श्लोक में ताम्बूल इस गोपी ने समर्पण भगवान् को किया है, कारण कि 'कस्याश्चिद्' इस पद से षष्ठी विभक्ति संबंध सूचन कर रही है इसलिये इस गोपी ने ही समर्पण किया है, इसी आशय से आभास में 'भगवद्गृहीतं ताम्बूलं' यह कहा है ।

जिस प्रकार ज्ञान को शिष्य गुरु की शरण जाकर सेवा आदि यत्न से प्राप्त करता है, उसी प्रकार यह गोपी भगवान् ने ग्रहण किये ताम्बूल को अपना कपोल—गाल भगवान् के कपोल से मिलाकर यत्न से ग्रहण करती हुई ।

गोपी को भगवान् ने ताम्बूल का दान किया, इस बात को शुकदेवजी आगे तेहरवें श्लोक में कहते है ।

यहां पर यह जानना चाहिये कि द्वितीय स्कंध में 'निरोधोऽस्यानुशयनम्' यह निरोध का लक्षण कहा है, वहां पर श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं कि बहत्तर ७२ नाडी रूप देह की शक्तियां हैं, और भगवान् की श्री, पुष्टि, गौर, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति, माया, ये बारह शक्तियां हैं ।

शयन, ( जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्त ) भेद से तीन प्रकार का है, इसीसे दशमस्कंध में ८७ सत्तासी अध्याय संख्या का बीज कहा है, और यह बीज स्थूल दृष्टि से कहा है ।

प्रश्नोपनिषद् में 'अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतं एकैकस्यां द्वासप्तति प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि' प्र० ३।६ ।

हृदय में एक सौ एक नाड़ियां हैं, प्रत्येक नाड़ियों में सौ, सौ अन्य छोटी नाड़ियां हैं, इन छोटी प्रत्येक नाड़ियों में बहत्तर ७२ नाड़ियां हैं, इनमें भी हजार प्रति शाखा नाडी, अर्थात् अनन्त नाड़ियां हैं।

उसी प्रकार यहां दशम निरोध स्कंध में भी वाक्य, प्रकरण आदि जिन विषयों का प्रतिपादन किया है, उनका विचार करने पर सर्व विषय अनन्त हैं, इस प्रकार 'परास्य शक्तिर्विविधैव' परमात्मा की पराशक्ति विविध ही हैं, उक्त श्रुति में भगवान् की शक्ति अनेक प्रकार की कही हैं।

यहां भक्तों के निरोध में भी भगवान् के गुण धर्म आदि भेद से भक्तों में अनेक भेद हैं।

सर्व गोपियों में अन्तरङ्ग तो धर्म रूप गोपियां ही हैं, कारण कि भगवद्रूप ज्ञान की निर्वाहक-प्राप्त कराने वाली हैं, अर्थात् भगवद् रूप ज्ञान का बोध करने वाली हैं।

यहां पर जो लीला हो रही है, उसमें स्थित अन्तरङ्ग धर्म रूप गोपियां ही हैं, इस प्रकार संख्या बल से निश्चय होता है।

अन्तरङ्ग धर्म रूप गोपियों में यहां प्रथम जो ऐश्वर्य, वीर्य, यश तथा श्री, ये चार प्रकार की गोपियों के स्वरूप का परिचय 'काचित्समं' इत्यादि श्लोकों में कहे भिन्न-भिन्न कार्यों से ही हो जाता है, इसलिये वहां विशेष स्पष्ट नहीं किया।

अब इस श्लोक में कही स्वामिनी का तो ज्ञानरूपत्व प्रमाण कार्य यहां तथा आगे स्फुट नहीं है, केवल योग्यता ही स्फुट है, इसलिये योग्यता के बल से यह गोपी ज्ञान रूप है, इस प्रकार को स्पष्ट करना चाहिये।

जिस प्रकार 'अञ्जलिना सक्तून् प्रदाव्ये जुहुयात्' इसमें कहा है कि हस्त में सतुआ जिस प्रकार रह सके उस प्रकार अञ्जलि को संकुचित करके हवन करे।

इस वाक्य में सतुआ की स्थिति योग्यता बल से अञ्जलि को संकुचित करना कहा है, उसी प्रकार योग्यता बल से इस गोपी में भी ज्ञान रूप स्पष्ट करना चाहिये कि यह गोपी ज्ञान रूप है।

ऐश्वर्य आदि भगवान् के धर्म भगवान् में नित्य हैं, अन्य में आगन्तुक, अनित्य हैं, इसका वर्णन 'युक्तं भगैः स्वैरितत्र चाध्रुवैः' यहां पर किया है, इसीसे प्रकृत-चालू गोपियों के प्रसङ्ग में गोपियां रस रूप के मध्यपाति हैं, तथा धर्म रूप हैं, इसलिये भगवान् से अभेद होने पर भी अवतार से भिन्न हैं, अतः गोपियों में ऐश्वर्य आदि धर्म आगन्तुक ही हैं, यह बात गोपियों के कार्य द्वारा भी मालूम होती है।

जब ऐश्वर्य आदि धर्म आगन्तुक हैं, तो इनमें जो ज्ञान है, वह भी आगन्तुक आया हुआ अनित्य है, इसलिये इसका दान करने में दान लेने वाली गोपी के साधन से तथा स्वरूप से योग्यता दान करने में कारणभूत है, तथा भगवान् का प्रसाद-अनुग्रह, दान करने में कारणभूत है। इस प्रकार मूल में सूचन किया है।

**कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्।**
**गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्वितम् ॥ १३ ॥**

पदपदार्थ—( कस्याश्चित् ) किसी गोपी के लिये ( नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ) नृत्य से हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से शोभित ( गण्डं ) कपोल को (गण्डे) भगवान् के कपोल में ( सन्दधत्यै ) मिलाने वाली के लिये भगवान् ( ताम्बूलचर्वितम् ) चर्वित पान को ( अदात् ) देते हुए। 'प्रादात्' इति पाठान्तरं प्रकाशे ॥ १३ ॥

भाषार्थ—नृत्य से हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से शोभित अपने कपोल को भगवान के कपोल में मिलाने वाली किसी गोपी के लिये भगवान ने चर्वित ताम्बूल दिया ॥ १३ ॥

( सुबो० ) कस्यैचित् ताम्बूलचर्वितमदादिति। स्वगण्डं भगवद्गण्डे सन्दधत्या इति तस्या अपेक्षा लाघवं च सूचितम्। सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवेनैव प्रादात्। अनेन तस्यै स्वविद्या दत्तेति ज्ञापितम्। तेनेयमेवोपदेष्ट्री भगवदसन्निधाने सर्वासां भविष्यति। तस्याः विद्यायोग्यतां वक्तुं लौकिकक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वमाह नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितमिति। नाट्येन विक्षिप्तस्य कुण्डलस्य त्विषा मण्डितं गण्डम्। नाट्ये क्रियाशक्तिः प्रतिष्ठिता। कुण्डले ज्ञानशक्तिः। क्रियाशक्त्या विक्षेपोऽत्यभ्यासः। योगात्मकत्वात् साधनानि वा। तस्य कान्तिरनुभवः। तेनालङ्कृता भक्तिः। भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा। यथा सा भगवति रता, एवं तस्यामपि भगवान् रतः। [1]तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते। [2]तां लक्ष्मीं प्रति मूलपर्यटनमिति। [3]लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता। चर्वितमिति साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् ॥ १३ ॥

किसी गोपी ने भगवान् को अपना सम्बन्धी जानकर जो पान दिया, उस चर्वित पान को भगवान् ने उस गोपी के लिये दिया।

इस गोपी ने अपना गण्ड-कपोल भगवान् के कपोल में मिलाया, इससे गोपी को भगवान् के चर्वित पान की अपेक्षा और लाघव का सूचन किया है।

यह गोपी भगवान् के सम्मुख स्थित नहीं थी, तो भी भगवान् ने लाघव से सहज ही से चर्वित ताम्बूल दे दिया। 'प्रादात्' इस क्रिया में 'प्र' उपसर्ग दान—में प्रकर्ष सूचन करता है, प्रकर्ष यहां यह है कि भगवान् ने इस गोपी के लिये अपनी विद्या का दान किया है।

जिस प्रकार सर्व वेदान्त वाक्यों का सारभूत अर्थ ब्रह्मविद्या है, उसी प्रकार उपनिषद आदि वाणी के अधिपति रसात्मक भगवान ने अपने मन में ही भक्तविषयक स्नेहकलाओं से निष्कर्ष-निचोड़ करके ताम्बूलचर्वित का इस गोपी में स्थापन किया। इस प्रकार अपनी विद्या का दान दिया है, इसलिये जिस समय भगवान अन्य गोपियों के पास में नहीं हो, उस समय यही गोपी सर्वगोपियों के लिये उपदेश करेगी, अर्थात् जिस समय गोपियों की विप्रयोगदशा होगी, उस समय उपस्थित मरणदशा में मरणनिवर्तक वाक्य-कहकर अपनी सखियों को जिलाने वाली होगी।

---

[1] साध्यं फलम्, तद्रूपा फलानुभवरूपेत्यर्थः। तत्र स्थित्वा तत्सम्बन्धेन फलानुभवः कर्तुं शक्यते इति साध्यरूपभक्तित्वं गण्डस्य।

[2] तां लक्ष्मीं गण्डसम्बन्धिनीं कान्तिरूपलक्ष्मीं प्रति तद्रसानुभवमूलभूतस्य भगवतः पर्यटनमीषत्तदाभिमुख्यकरणम्।

[3] पूर्वनिरूपितकान्तिरूपलक्ष्मीवान् गण्डः, तत्स्पर्शजनितरसभावप्रकारविशेषलीलाविषयकभगवज्ज्ञानावृत्तिरेवावृत्तिः। तद्वन्मुखे चर्वितदानार्थं वारं वारं ताम्बूलावृत्तिरिति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता। अत एवाग्रे चर्वणप्रयासाभावात् सिद्धदानम्।

जिस प्रकार ब्रह्मविद्या ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है, उसी प्रकार यहां यह स्वामिनी प्रिय भगवान की प्राप्ति करायेगी ।

सुबोधिनी में 'स्व' पद कहा है, वह यह सूचन करता है कि भगवान् ने इस गोपी को अपनी विद्या दी, मायानिर्मित विद्या नहीं दी ।

भगवान ने इस गोपी के लिये इस प्रकार की सामर्थ्य दी, कि जिस से विप्रयोगका अनुभाव न होता है, और इस गोपी के उपदेशद्वारा अन्य गोपियों का जीवन भी स्थिर रहता है।

विद्यारूप चर्वित पानग्रहण करने से वाणी में कवित्वशक्ति प्राप्त हो जाती है, यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है, इसलिये यह गोपी भगवान के दिये चर्वित ताम्बूल से उपकार कर सकेगी, इसमें किसी प्रकार की शंका को अवकाश नहीं है । श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने इसी प्रकार गोपाल दास जी को अपना चर्वित पान दिया था, उस पान से गोपालदास जी को सर्वसिद्धान्त एवं कवित्व आदि का परिज्ञान हो गया था, इसका परिचय पुष्टिसंप्रदाय में 'वल्लभाख्यान' आदि काव्य प्रसिद्ध है ।

इस गोपी में विद्यादान प्राप्त करने की योग्यता है, इस बात को कहने के लिये इस गोपी में लोकसिद्ध संयोगरस का अनुभव कराने वाली क्रियाशक्ति, तथा ज्ञानशक्ति है।

इस प्रकार संयोगरस का अनुभव करने का सामर्थ्य सिद्ध होने के कारण इस गोपी में विप्रयोग रस का अनुभव संपादन करने वाली विद्या के ग्रहण करने की योग्यता भी है।

इस गोपी ने भगवान् का जिस समय अनुकरण किया, उस समय इस प्रकार की शोभा देखकर भगवान् ने प्रसन्न होकर इसको ताम्बूल दिया, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि 'नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम्' नृत्य से हिलता हुआ जो कुण्डल, उस कुण्डल की कान्ति से शोभित अपने गण्ड-कपोल को भगवान के गण्ड में धारण करती थी ।

अब योग्यता, तथा प्रसाद द्वारा देय स्वरूप स्पष्ट करते हुए व्याख्यानमुख से क्रिया तथा ज्ञान रूप को दिखाते हैं ।

नाट्य में नृत्य में क्रियाशक्ति प्रतिष्ठित हैं, और कुण्डल में ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित है, स्थित है । अर्थात् यहाँ आध्यात्मिक रीति से सिद्ध अर्थ का निरूपण करते हैं ।

आध्यात्मिक रीति के अनुसार जो शास्त्र का अर्थ सिद्ध होगा, वह अर्थ उपदेश करने पर साधन करने वाले पुरुष को ग्रहण करना चाहिये ।

नाटच-नृत्य कर्मेन्द्रिय से उत्पन्न होता है, इसलिये नाटच में क्रियाशक्ति प्रधान रूप से स्थित है, और कुण्डल में ज्ञानशक्ति स्थित है, 'बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुण्डले' भा० १२।११।१२ । उक्त इस द्वादश स्कंध के वाक्य से भगवान् सांख्य तथा योग रूप मकर कुण्डल धारण करते हैं , इसलिये यहां भी गोपी भगवान् की शक्ति रूप होने के कारण भगवान् से भिन्न नहीं है, इसलिये स्वामिनी के कुण्डलों में भी सांख्ययोगरूपता है ।

स्वामिनी के वाम दक्षिण पार्श्व में स्थित कुंडलों में से एक का निर्णय यहां नहीं कर सकते, इसलिये पक्षद्वय में प्रथम सांख्य का निर्णय कहते हैं । भगवान् का कुण्डल सांख्य रूप है, सांख्य का ज्ञान में पर्यवसान है, इसलिये कुण्डल में ज्ञानशक्ति की प्रतिष्ठा कही है ।

यद्यपि भगवान् के कुण्डलों को सांख्यरूप तथा योगरूप कहा हैं, तथापि 'गण्डं गण्डे सन्दधत्यै' इस श्लोक में एक गण्ड का सन्धान तथा 'कुण्डलत्विषमण्डितम्' विशेषण से एक ही कुण्डल ग्रहण करने के कारण सांख्य का ही कारण किया है, योग का नहीं किया है ।

यद्यपि भगवान् का कुण्डल सांख्यरूप है, तथापि व्रजसुन्दरियां भी भगवान् की शक्ति होने से भगवान् से भिन्न नहीं है, अतः इनमें ज्ञानशक्ति प्रतिष्ठित कही गई है ।

इस प्रकार 'नाटचविक्षिप्त' कहने से अर्थात् नाटच-नृत्य से क्रियाशक्ति द्वारा विक्षिप्त, अत्यन्त अभ्यास जिसका किया, वह ज्ञान-कर्मेन्द्रिय व्यापारद्वारा गुरुसेवा आदि से साधित जो ज्ञान, वह स्वनिष्ठित है, यह फलित अर्थ हुआ, सांख्यपक्ष में ज्ञानपूर्वक भगवद्विचारित रीति से कर्म की आवृत्ति से इस गोपी में योग्यता है ।

अभ्यास का अर्थ आवृत्ति है, इस प्रकार पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा में—अर्थात् जैमिनिसूत्र, तथा व्याससूत्र में कहा है ।

इस श्लोक में एक ही कुण्डल कहा है, किन्तु यह कुंडल दक्षिण भाग का, अथवा वाम भाग का है, इसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये श्रीमहाप्रभु योगपक्ष का भी व्याख्यान करते हैं 'योगात्मकत्वात् साधनानि वा' इस पक्ष में साधन कुण्डल का अर्थ है, इसलिये नाटच से क्रियाशक्ति से विक्षिप्त-अत्यन्त अभ्यास किया जो कुण्डल योगात्मक साधन, इस प्रकार अर्थ होता है ।

कर्मेन्द्रिय व्यापार से आसन प्राणायाम आदि द्वारा साधित जो योगात्मक साधन—चित्त की एकाग्रता, इस प्रकार फलित अर्थ हुआ है । कारण कि 'परो हि योगो मनसः समाधिः' मन की समाधि पर योग है, यह वाक्य है । 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्मों में कुशलता योग है, इस वाक्य से कुशलता से किये गये शम आदि कर्म का नाम योग है, इसलिये योगपक्ष में उक्त साधनसमुदाय से योग्यता है, इस प्रकार का कर्म ज्ञानपर्यवसायी है, अर्थात् इस प्रकार के कर्म से ज्ञान उत्पन्न होता है ।

ज्ञान प्रकाशक है, इस बात को कहते हैं ' तस्य कान्तिरनुभवः' क्रियाशक्ति से अभ्यस्त जो ज्ञान अथवा चित्त की एकाग्रता उसकी जो त्विट्-कान्ति–अनुभव, उस अनुभव से अलंकृत भक्ति है । रूखा ज्ञान तो अक्षरपर्यवसायी होता है, यहाँ तो भक्ति का अङ्ग ज्ञान कहा है ।

स्वामिनी के मण्डित-शोभित गण्ड से स्नेह भक्ति का निरूपण किया है, कारण कि मुख भक्ति रूप है, इससे यहां ज्ञान के अनुभव से तथा चित्त की एकाग्रता के अनुभव से अलंकृत भक्ति का वर्णन किया है ।

इस प्रकार के नृत्य से विक्षिप्त जो व्रजसुन्दरी का कुण्डल, उस कुण्डल की जो कान्ति, उस कान्ति से शोभित जो गोपी का गण्ड-कपोल, उसका स्वरूप आध्यात्मिक पक्ष से कहा है । इससे यह सिद्ध हुआ कि कर्मेन्द्रिय व्यापार नृत्यद्वारा हस्तग्रहण आदि से उत्पन्न हुआ जो पुरुषोत्तम का रसरूप ज्ञान, चित्त की एकाग्रता–निरन्तर भगवान् में चित्त लगा रहना, उसके अनुभव से पुरुषोत्तम विषयक व्रजसुन्दरी के हृदय में भक्ति, स्नेहरूप सिद्ध हो गई ।

मूल में 'गण्डं गण्डे सन्दधत्यै' इस प्रकार कहने से इस गोपी ने अपना गण्ड भगवान् के गण्ड में स्थापन किया है, गण्ड भक्तिरूप है, और भक्ति स्नेहरूप है, इसलिये अपना स्नेह भगवान् के स्नेह में स्थापित किया, इसीसे मूल सुबोधिनी में श्री महाप्रभु ने कहा है 'तेनालंकृता भक्तिर्भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा' इससे अलंकृत भक्ति भगवत् प्रेम से सम्बद्ध है ।

इस प्रकार व्रजसुन्दरी ने अपना गण्ड भगवान् के गण्ड में धारण किया, इसका तात्पर्य आध्यात्मिक पक्ष से कहा है । इससे यह सिद्धान्त का निष्कर्ष हुआ कि गोपी गण्डरूप भगवद् विषयक प्रेमभक्ति में नृत्यरूप क्रियाशक्ति हेतुक विक्षेपात्मक अभ्यास से सिद्ध कुण्डलात्मक ज्ञान

का अथवा चित्त की एकाग्रता का अनुभव होने से जो अलंकृतता से विशेषण दिया है, उससे ज्ञात होता है कि कर्मेन्द्रियों का अभ्यास ज्ञान को तथा योग को भक्तिशेषता है, इस प्रकार यहाँ योग्यता की काष्ठा निरूपण की है ।

इस प्रकार की योग्यता भगवान् के प्रसाद में कारण है ।

अब योग्यताफलभूतप्रसादकाष्ठा को कहते हैं ( यथा ) जिस प्रकार इस गोपी का प्रेम भगवान् में है, उसी प्रकार भगवान् का प्रेम इस गोपी में है ।

भगवान् आत्मरत भी है, इस बात को 'अपि' शब्द सूचन करता है, इसीसे 'आत्मारामोऽपि लीलया' इस प्रकार आगे कहेंगे ।

यह गोपी भगवान् में ही रत है, इसको अपनी आत्मा भी भगवान् के अर्थ ही प्रिय लगता है, यह भाव है ।

इस प्रकार की भी यह भक्ति फलरूप नहीं है, किन्तु 'चेतस्तत्प्रवणे सेवा' इस वाक्यानुसार साध्यरूप ही है, कारण कि यहां मुख के एकदेश का बोध करने वाला जो गण्डपद है, उस गण्ड पद से दोनों की–पुरुषोत्तम तथा गोपी की परस्पर निष्ठा कही है, इस आशय से कहते हैं कि ( तत्रापि ) ।

भगवान का संबंध होने पर भी यह गण्ड साध्यरूपा भक्ति है । अर्थात् गण्ड कपोल साध्यफलरूप-फलानुभवरूप भक्ति है ।

गण्ड में स्थित होकर गण्ड संबंध से फल का अनुभव कर सकते हैं, इसलिये गण्ड साध्य रूप भक्ति है, अर्थात् इस प्रकार का भगवान् से गण्डसंबंध होने पर भी ज्ञान नष्ट होने के कारण साध्यरूप ही है, फल काष्ठारूप नहीं है । कारण कि गण्ड लोभ में स्थित रस के अनुभव सहित है, 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः' इस उक्त श्लोक में कहे अनुसार केवल रसग्रहण सहित नहीं है ।

इस प्रकार मूल व्याख्यान से योग्यता तथा प्रसाद स्पष्ट कहकर इन दोनों को देय स्वरूप का निश्चय करने का प्रकार कहते हैं, 'तां लक्ष्मीं' भगवान् ने स्वामिनी को चर्वित ताम्बूल दिया, इसका प्रकारान्तर से अर्थ कहते हैं 'तां लक्ष्मीं' इस गोपी के कुण्डल की शोभा के प्रति, अथवा लक्ष्मीरूप इस गोपी के प्रति मूल स्वामिनीविषयक स्नेहरूप जो भगवान् का गण्ड है, उस गण्ड का पर्यटन होता है, इस कारण से इस गोपी को चर्वित ताम्बूल दिया है, अर्थात् भगवान् इस गोपी के गण्ड की शोभा को लक्ष्य करके अपना गण्ड पुनः इस गोपी के गण्ड में संयोजन करते हैं ।

'गण्डं गंडे सन्दधत्यै' इस वाक्य से गोपी ने भगवान् के गण्ड में अपना गण्ड स्थापन किया, गण्ड का स्थापन स्नेह से होता है, इसलिये जिस प्रकार इस गोपी ने भगवान् के गण्ड में स्नेह से अपना गण्ड स्थापन किया, उसी प्रकार भगवान् ने भी अपना गण्ड इस गोपी के गण्ड में स्थापन किया ।

'प्रादात्ताम्बूलचर्वितम्' इस पद में 'ताम्' इस प्रकार का 'तत्' शब्द के प्रयोग से जिस गोपी ने गण्ड धारण किया, उसका ग्रहण होता है, इसलिये यहाँ 'तां लक्ष्मीं प्रति' इस प्रकार विवरण किया है ।

इस गोपी में लक्ष्मी का प्रवेश है, इसलिये लक्ष्मीत्व कहा है, अतः इसका अर्थ इस प्रकार हुआ कि भगवान् ने लक्ष्मीरूप गोपी के प्रति मूलरूप-स्नेहरूप गण्ड का चर्वित ताम्बूल पुनः पुनः धारण किया ।

जिस प्रकार गोपी ने अपना गण्ड स्थापन करके स्नेह दिखाया, उसी प्रकार भगवान् ने भी अपना गण्ड स्थापन करके गोपीविषयक स्नेह दिखाया, यह सिद्ध हुआ ।

यह बात युक्त भी है, चर्वित ताम्बूल का दान परम प्रेम से ही होता है, इससे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रकार की भगवान् की प्रतिज्ञा भी सिद्ध होती है, यहां 'ताम्बूल' शब्द को ताम्, और बूल, दोनों शब्द पृथक् करके मूल की व्याख्या की है, मूलशब्द में यद्यपि वकार है, मकार नहीं है, तथापि आर्ष प्रयोग में इतना आग्रह नहीं करना चाहिये, और ताम्बूल पद में 'वापदान्तस्य' इस पाणिनीय सूत्र से परसवर्ण करने पर मकार भी है, इसलिये मूलपद में जो कहा है, वह विरुद्ध नहीं है । वास्तव में तो इस प्रकार निरुक्ति में व्युत्पत्ति की गई है कि वर्णसाम्य से शब्द का अर्थ कहना चाहिये, इसलिये यहाँ साधुत्व असाधुत्व का अत्यन्त विचार नहीं है, 'अप्यक्षरवर्णसाम्येन निर्ब्रूयान्न संस्कारमाद्रियेत' इस प्रकार का अनुशासन है ।

अब ज्ञानरूप कथन का निगूढ आशय कहते हैं, ( लक्ष्मीवन्तं प्रति ) इस प्रकार लक्ष्मीवान भगवान् के प्रति गोपी का गण्ड बार बार जाता है, अर्थात् स्नेह से वह गोपी बार बार भगवान् के गण्ड में अपना गण्ड धारण करती है ।

जिस प्रकार ज्ञान का उपदेश करने वाले के सकाश से ज्ञान प्राप्त करके जिस प्रकार से जानता है, उस प्रकार का ज्ञान बार बार फिर उपदेश करने वालेके आगे निवेदन करता है संशय दूर करने के लिये, शिष्य बार बार आवृत्ति करता है, उसी प्रकार बार बार लक्ष्मीवान्, भगवान् के प्रति गोपी गण्ड धारण करती है ।

अथवा इस प्रकार की शोभायुक्त गंड के प्रति भगवान् के भीतर मुख में स्थित ताम्बूल बार बार गोपी के मुख में जाता है ।

इस प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल में तुल्यता है ।

जिस प्रकार ज्ञानवान पुरुष के पास से उपदेशद्वारा ज्ञानग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार लक्ष्मीवान पुरुषोत्तम भगवान् के पास से गण्डस्थापन करके गोपी ने चर्वित ताम्बूल ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त किया है ।

भगवान् मुझमें अत्यन्त अनुरक्त है, और रसिकशिरोमणि है, इस प्रकार का ज्ञान इस गोपी को है ।

ताम्बूल दान के अनन्तर भगवान कुण्डल की कान्ति से शोभित तथा ताम्बूल की आवृत्ति से चलायमान गण्ड की शोभा से अपहृतचित्त होते हुए उस गण्ड की शोभा को बार बार देखते हैं, इससे मालूम होता है कि ताम्बूल के मिस से इस गोपी को भगवान् ने ज्ञान ही दिया है । अर्थात् अपना ज्ञान इस गोपी में स्थापित किया है । इस प्रकार सार अर्थ का है ।

'चर्वित' शब्द सूचन करता है कि इस गोपी को चर्वणरूप साधन का प्रयास नहीं करना पड़ा, भगवान् ने सिद्ध दान किया है ।

लक्ष्मीजी भगवान् का स्वरूप जानती है, तथा भगवान् के स्वरूप का उपदेश करती है, इस प्रकार कूर्मपुराण आदि में सिद्ध है ।

यहां साधन प्रकरण में गोकुलवासियों को ब्रह्मानन्द में मग्न कर पुनः निकालने की कथा से गोपियों में योग्यता का बोध कर लक्ष्मीत्व सिद्ध किया है ।

'ह्रीर्धीर्भी' इस श्रुति के व्याख्यान में 'वृत्तिरूपं मनोधर्मः' वृत्तिरूप ज्ञान मन का धर्म है, यह कहा है । विद्यात्मक ज्ञान भी मन का धर्म है, यहांपर प्रकृत विषय विद्यारूप ज्ञान का है,

इसलिये 'तां' पूर्वोक्त रीति से लक्ष्मी के प्रति 'प्रतिलंक्षणे कर्मप्रवचनीयः' इससे प्रति के योग में द्वितीया है, इसलिये 'तां' पूर्वोक्त रीति से लक्ष्मी के प्रति लक्ष्य करके 'मूलपर्यंटनं' विद्यामूल भगवान् के मन की बार बार आवृत्ति है, अर्थात् जिस प्रकार भगवान् का ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् का उद्देश करके उस ज्ञान की आवृत्ति करते हैं, उसी प्रकार इस गोपी का उद्देश करके विद्या का मूल जो भगवान् उसका मन आवृत्ति बार बार करता है। मूल में 'सन्दधत्यैं' इसमें धाव् धातु पोषण अर्थ में है, इसलिये बार बार सिद्धि से जिस प्रकार लक्ष्मीवान्, धर्मी, धर्म वाले गण्ड को लक्ष्य करके बार बार मिलने को आता है, अर्थात् पूर्वनिरूपित कान्ति रूप लक्ष्मीवान गण्ड है, उस गण्ड के स्पर्श से उत्पन्न जो रस भाव प्रकार विशेष है, उस भाव से लीलाविषयक भगवान् के ज्ञान की आवृत्ति ही आवृत्ति है, इसी प्रकार लक्ष्मीवान् मुख में चर्वित ताम्बूल दान के लिये बार बार ताम्बूल की आवृत्ति है।

इस प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल में कही हुई रीति से योग्यता होने पर देय जो ज्ञान तथा ताम्बूल प्रसाद है, उसमें तुल्यता है।

जिस प्रकार सादृश्य होने से चावलों के स्थल में समाके चावलों का ग्रहण द्रव्य का एकदेश मान कर किया है, उसी प्रकार ज्ञान तथा ताम्बूल की सिद्ध तुल्यता में उस प्रकार ज्ञानांश मान कर उसका दान किया है, इसी अभिप्राय से टिप्पणी में 'तथा सर्ववेदान्त' आदि कहा है, सरस्वती ताम्बूल चर्वित ग्रहण करने से, ग्रहण करने वाले को कवित्त आदि प्राप्त होना लोक में भी प्रसिद्ध है, इसलिये उपदेश करने में भी संदेह नहीं है ॥ १३ ॥

**( सुबो० ) अपरा पुनः वैराग्यात्मकं क्रियारूपमच्छिद्रं ज्ञाने सहायार्थं भगवद्धस्तं स्वहृदये स्थापितवतीत्याह नृत्यतीति ।**

फिर भगवान् के दूसरी तरफ खड़ी गोपी वैराग्यात्मक क्रियारूप तथा अच्छिद्र कर्णादि में जिस प्रकार छिद्र होता है उस प्रकार नहीं, अर्थात् छिद्ररहित और ज्ञान में सहाय के लिये जो भगवान् का श्रीहस्त है, उसको अपने हृदय पर स्थापन करती थी, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं।

यह गोपी अत्यन्तस्नेह से स्वयं भगवान् का विप्रयोग सहन नहीं कर सकी तो फिर अन्य गोपियों का समाधान करना संभव नहीं हो सकता है, इसलिये विप्रयोगदशा में अन्य गोपियों के समाधान करने में शक्ति हो तथा प्रथम दिया ज्ञानकार्य सिद्ध करने के लिये इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय मे स्थापन कर लिया है।

भगवान् का श्रीहस्त का क्रियाशक्ति रूप है, और श्रीहस्त अच्युत भगवान् का है, इससे उस समयभी कार्य कर सकता है, भगवान् का श्रीहस्त छिद्ररहित है, इससे निश्चय फल देता है। तथा श्रीहस्त कमल है, इससे उस समय भी तापकार्यनिवर्तक है। इस प्रकार श्रीहस्त भगवान् का अपने हृदय में यह गोपी धारण करती थी।

इस प्रकार वैराग्य में ताप दूर करने की तथा ज्ञान में सहायता देने की शक्ति प्रसिद्ध है। और भगवान् के श्रीहस्त के सम्बन्ध से उपदेश करने में सहायतारूप भक्तकार्य होता है, इस भक्तकार्य द्वारा वैराग्य का भगवान् के हस्त मे निश्चय होता है।

बाण आदि आयुधों के अग्रभाग में शक्ति फल का व्यवहार लोक में दीखता है हस्तक्रिया शक्तिरूप बाहु का अग्रभाग है, और वैराग्य कर्मों का फल है, इससे भी निश्चय होता है, कि भगवान् का श्रीहस्त वैराग्यरूप है, तथा छिद्ररहित है, कारण कि बाहुका हस्त अग्रभाग है, प्रान्तअग्रभाग में छिद्र नहीं होता है, यद्यपि इस भाव का प्रतिबंध अन्य किसीसे हो नहीं सकता है, तथापि भगवान् के सम्बन्ध से जिस प्रकार इस भाव का प्रतिबंध नहीं हो सकता है, उसी प्रकार

भगवान् के हस्तकमल का भी प्रभु के साथ में सम्बन्ध है, इससे इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय में धारण किया है।

उस समय प्रभुसम्बन्धी भाव तथा प्रभुसम्बन्धी हस्तकमल, इन दोनों की अनुवृत्ति से दोनों कार्य उत्पन्न होने से विचित्र महारसात्मक भाव प्रकट हो गया है।

यदि कोई शंका करे कि इससे प्रथम १३ वे श्लोक में तथा आगे १४ वे श्लोक में कही गयी दोनों नायिकाओं में भेद है, इसलिये जो तुमने कहा है वह सब योग्य नहीं मालूम पड़ता है।

इस शंका के समाधान में कहते हैं कि तुमको इस प्रकार कहना नहीं चाहिये, कारण कि यहां भगवान् के ऐश्वर्य आदि छै गुणरूप व्रजसुन्दरियां ही हैं, अतः छै गुण विशिष्ट स्वरूप को ही भगवान् कहते हैं।

यद्यपि भगवान् तथा गोपियां, दोनों के धर्मों का भेद कहना आवश्यक है, तथापि धर्मी एक होने से सब युक्त हो जाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवान् के ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग गोपियों के लिये विप्रयोगदशा में हो होता है, तथा इससे यह भी सूचित होता है कि विप्रयोगदशा में प्रभु रसात्मक है, इसलिये गोपियों के विरह से उत्पन्न जो विविध भाव हैं, उनके कार्य की शान्ति ज्ञान तथा वैराग्य से होती है।

यदि किसी को शंका हो कि पतञ्जलि महर्षि ने वैराग्य का लक्षण योगसूत्र में कहा है, तथा वैराग्य की अन्तिम दशा दो सूत्रों में वर्णन की है।

'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' योगसूत्र (१०।१।१५) 'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' (१।१।१६) इन सूत्रों का अर्थ भाष्य में व्यासपाद ने इस प्रकार किया है कि स्त्री अन्न पान ऐश्वर्यादि रूप जगत में–दृश्य विषय में, तथा स्वर्ग विदेह रूप प्रकृति में–लय प्राप्तिरूप वेद विषय में तृष्णारहित, उक्त पदार्थों में दोष देखने वाले पुरुष को दिव्य तथा अदिव्य पदार्थ का दान करने पर भी चित्त की 'वशीकारसंज्ञा' अपने वश में करने का नाम वैराग्य है, अर्थात् रागादि रूप कषायों के पक्व होने पर इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति न करके चित्त में उत्कंठा रूप से भी अथवा रागादि के स्थित न रहने से जो चित में एकाग्रता है, वह वैराग्य है।

इस प्रकार प्रथम सूत्र में वैराग्य का लक्षण कहा है।

द्वितीय सूत्र में तो सूत्र से भी उत्कृष्टता कही है, इसमें गुणों में तृष्णारहित कहा है, गुणों में तृष्णारहित पुरुष, विविक्त ज्ञानवान् होता है, इसलिये ज्ञान की पराकाष्ठा रूप कैवल्य-मोक्ष वैराग्य की पराकाष्ठा है, अर्थात् गुणपर्यन्त जितने विषय हैं, उनमें उपेक्षाबुद्धि पूर्वक चित्त की आत्मा में एकाग्रता का नाम वैराग्य है, अतः यह फलित अर्थ होता है।

यहां चालू विषय में तो भगवान् में तथा गोपियों में परस्पर राग तथा मात्सर्य का वर्णन किया है, इसलिये आत्मा में एकाग्रता नहीं है, अतः भगवान् के श्रीहस्त में जिस वैराग्य का वर्णन किया गया है, वह मुमुक्षु लोगों के वैराग्य सा साधारण नहीं है, अर्थात् मुमुक्षुओं के वैराग्य से भिन्न है।

यदि कहो कि यहां यतमान संज्ञा आदि वैराग्य का वर्णन किया है? तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'यतमानसंज्ञा' वैराग्य का जो लक्षण कहा है वह यहां मिलता नहीं है, किन्तु 'सन्त्यज्य सर्वविषयान्' भा. १०।२६।३१। 'यत्पत्यपत्य' भा०१०।२६।३२। 'कुर्वन्ति हि' १०।२६-।३३ इत्यादि श्लोकों में स्पष्ट कहा है कि जगत् में लौकिक वैदिक जितने पदार्थ हैं, उनमें गोपियों की तृष्णा नहीं थी, इसलिये गोपियों में यही वैराग्य कहना चाहिये, 'यतमानसंज्ञा' नहीं कहना चाहिये।

गोपियां तो विप्रयोग दशा में अपनी आत्मा की भी इच्छा नहीं करती हैं, एक भगवान् में चित्त एकाग्र करती हैं ।

इस प्रकार आत्मा की एकग्रता में भी प्रथम कहे वैराग्य से गोपियों की एकतानता विशेष है ।

इस प्रकार वैराग्य तथा एकाग्रताभाव गोपियों में भी सर्वसाधारण सा देखने में आता है, फिर यहां कौन सा वैराग्य वर्णन किया है ?

इस शंका के इत्तर में कहते हैं कि यहां पर इस प्रकार मालूम होता है कि नवम स्कंध में 'नाहमात्मानमाशासे' भा० ९।४।६४। भगवान् ने कहा है कि मैं अपने भक्त साधुओं के अतिरिक्त अपनी आत्मा की भी इच्छा नहीं करता हूं, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध हुआ है कि भगवान् की भक्तों में कृपा होती है, तथा भक्तों से अतिरिक्त कहीं भी भगवान् का राग नहीं होता है । भक्तों में ही राग होता है ।

इसी प्रकार 'वेणुगीत' ग्यारहवें श्लोक की सुवोधिनी में 'उत्कर्षश्चापि वैराग्ये' इस कारिका से भगवान् की सेवा करके भगवान् का क्लेश दूर करने वाला, सेवारूप वैराग्य का उत्कर्ष वर्णन किया है, इस प्रकार उक्त वर्णन करने से सिद्ध होता है कि जिस समय अपने समान अन्य गोपियों को भगवान् का विप्रयोग होता है, उस समय नवम अवस्था-मूर्छा आदि अवस्था की निवृत्ति न होने पर भगवान् को भी क्लेश होना संभव होता है, इसलिये इस प्रकार का क्लेश स्वयं गोपी सहन करके भी अपनी अन्य सखियों का क्लेश निवारण रूप सेवा करती है ।

और जो सेवारूप वैराग्य का उत्कर्ष है, वह प्रथम कहे भगवान् के वैराग्य के बिना संभव नहीं होता है, इसलिये इस प्रकार के वैराग्य का यहां रासक्रीडाप्रसङ्ग में वर्णन किया है, कारण कि भगवान् की भक्तों में कृपा का तथा भक्तो से अतिरिक्त अन्य में भगवान का राग न होने का यहां स्पष्ट निरूपण किया है ।

इन सब बातों को हृदय में विचार करके प्रभुचरणों ने टिप्पणी में कहा है, ( अत्रायं भाव: ) यहां से लेकर ( सूच्यते ) यहां तक कहा है, अतः कोई बात अयोग्य नहीं है, इससे इस गोपी ने भगवान् का श्रीहस्त अपने हृदय में स्थापन किया है. इस बात को शुकदेवजी कहते हैं ।

**नृत्यती गायती काचित् कूजन्नूपुरमेखला ।**
**पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥ १४ ॥**

**पदपदार्थ**—( काचित् ) कोई अन्य गोपी ने ( नृत्यती ) नृत्य करती (गायती) गान करती ( कूजन्नूपुरमेखला ) शब्द कर रहे नूपुर और मेखला जिसके ( श्रान्ता ) थकी हुई ( शिवम् ) कल्याणरूप ( पार्श्वस्थाच्युतहस्ताब्जं ) अपने पास में स्थित अच्युत के हस्त कमल को (स्तनयो:) दोनों स्तनों पर ( अधात् ) धारण किया ॥ १४ ॥

**भाषार्थ**—अन्य कोई भगवान् के दूसरी तरफ स्थित गोपी ने नृत्य तथा गान करती हुई जिसके नूपुर और मेखला का शब्द हो रहा था तथा वह थक गई थी, उसने अपने पास में स्थित कल्याणरूप अच्युत भगवान् का हस्तकमल स्तनों पर धारण किया ॥ १४ ॥

( सुबो० ) सा नृत्यं गानं च कुर्वंती स्थिता । तत्राभिनये यथान्यहस्तः स्थाप्यते, स्वहस्तो वा, तथा भगवद्धस्तमेव स्थापितवती । शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्या वर्तत इति ज्ञापनार्थं नृत्यगानयोः कथनम् । कूजती नूपुरे मेखला च यस्याः । उपरि गानाभिनयनम् । पादयोर्नृत्यम् । अत एव नूपुरयोर्मेखलायाश्च शब्दः । सच भावोद्दीपकः ( रसोद्दीपकः ) अनेन तस्याः पूर्वंस्थिता सर्वैव क्रियाशक्तिः सफलेति सूचितम् । एकस्मिन्नेव पार्श्वे विद्यमानस्य भगवतः श्रान्ता सती तत्तापहरणार्थं स्तनयोरधात् । तापहारकत्वमब्जस्य प्रसिद्धम् । श्रमो निर्वृतिसूचकः । स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागः बाह्यत एवति भगवत एकस्मिन् भागे स्थितिरुक्ता । भगवत्क्रियाशक्तेरक्षयत्वसूचनायाच्युतेति । अग्रे सम्बन्धस्यापि करिष्यमाणत्वात् तदविघातार्थं च । तस्य पुनः कामाद्युद्बोधकत्वेन तापनाशकत्वमाशङ्क्याह शिवमिति । तदेव कल्याणरूपम्, आनन्दरूपत्वाच्च भगवतः ॥ १४ ॥

वह गोपी नृत्य और गान करने लग गई, नृत्य के अभिनय में जिस प्रकार दूसरे का हस्त अथवा अपना हस्त स्थापन किया जाता है, उस प्रकार इस गोपी ने भगवान् का हस्त ही अपने हृदय में स्थापना किया । वैराग्य का अधिकार इस गोपी में है, इस बात का बोध करने के लिये स्वामिनी के विशेषणों का तात्पर्य कहते हैं कि, इस गोपी में शब्द का ज्ञान और उसके अर्थ का अनुष्ठान करना विद्यमान है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये यहां नृत्य तथा गान का कथन है, कारण कि नृत्य आदि सर्वसाधारण है ।

इस श्लोक में कही गयी एक ही गोपी गान तथा नृत्य कर रही है, इसलिये ये यहां 'गायती' कहने से उस गोपी में शाब्द ज्ञान का वर्णन किया है ।

जिस प्रकार का गानप्रबंध में नृत्य का स्वरूप कहा है, उसी प्रकार का नृत्य यह गोपी जानती है, इसलिये जानकर गान करती है, यह कहा है । और जिस प्रकार का अपने नृत्य प्रबन्ध में नृत्य का स्वरूप कहा है, उस प्रकार का ही नृत्य कर रही है, इसलिये 'नृत्यती' कहा है ।

और यह गोपी गान प्रबन्ध का अर्थभूत नृत्य का अनुष्ठान करती है, इसलिये शुकदेवजी ने इस श्लोक में गान तथा नृत्य का वर्णन किया है ।

इस गोपी के नूपुर और मेखला मे शब्द हो रहा है, और ऊपर के भाग में गान के अनुसार अभिनय कर रही हैं, चरणों से नृत्य कर रही है । इसलिये ही दोनों चरणों के नूपुरों में तथा कटिमेखला में शब्द हो रहा है । यह शब्द भाव-अथवा रस का उद्दीपक है, उक्त भावोद्दीपक शब्द के कथन से इस गोपी की प्रथम की सब क्रियाशक्ति सफल हो गई, इस प्रकार सूचित किया है ।

जिस समय यह गोपी थक गई, उस समय एक तरफ ही समीप में विद्यमान भगवान् का श्रीहस्त अपना ताप दूर करने के लिये अपने स्तनों में धारण कर लिया, कमल ताप दूर करता है, यह बात प्रसिद्ध है । भगवान् का श्रीहस्तकमल ताप दूर करने वाला है । श्रम आनन्दसूचक है ।

इस गोपी के नूपुर तथा मेखला के शब्द से भगवान् का भाव उद्दीप्त हुआ, इसलिये अन्य गोपियां नहीं जाने इस प्रकार से इस गोपी के सब मनोरथ भगवान् ने अपने श्रीहस्त से इसके, शरीर के अवयवों का स्पर्श कर पूर्ण किये ।

इसके अनन्तर आनन्द से गोपी थक गई थी, इसलिये इस गोपी ने विचार किया कि कहीं भगवान् से वियोग न हो जाये, वियोग होने पर पुनः ताप हो जायगा, अतः ताप की संभावना से तथा ताप दूर करने के लिये भगवान् का श्रीहस्त अपने स्तनों में धारण कर लिया, इस प्रकार मूल का अर्थ है ।

इस गोपी का अभीष्ट पूर्ण होने के कारण क्रियाशक्ति प्रथम जो भगवद्भावना से की थी, वह सब ही इसकी सफल हो गई ।

यदि कहो कि थक कर जब इस गोपी ने नृत्य का परित्याग कर दिया, फिर इसके पास में भगवान् की स्थिति किसलिये रही, तथा पूर्वक्रिया नृत्य का परित्याग वैराग्य का बोध करने वाला है, वह यहां कह दिया, फिर वैराग्य में शेष क्या रहा ?

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि (स्वस्याः पूर्वक्रियापरित्यागः) इस गोपी ने जो क्रिया-नृत्य का परित्याग किया है, वह श्रम होते हुए भी बाहिर से ही किया है, भीतर तो नृत्य करने की इच्छा स्थित ही है, इसलिये फिर नृत्य करने के लिये भगवान के एक भाग में स्थिति कही है ।

भगवान अच्युत है इसलिये इस गोपी को स्पर्शमात्र से अभिलाषा पूर्ण की है, इस बात को कहते हैं, कि भगवान की नृत्यरूप क्रियाशक्ति का नाश नहीं होता है, इसी बात को सूचन करने के लिये अच्युत पद कहा है भगवान का श्रीहस्त हृदय में धारण करने से इस गोपी की कार्यसिद्धि होने से आगे मुख्य भोग नहीं होगा, इस शंका का भी अच्युत पद से ही निरास होता है, आगे भगवान इस गोपी के साथ सम्बन्ध-मुख्य रमण भी करेंगे, इस लिये मुख्य रमण में न्यूनता आदि दोष दूर करने के लिये भी यहां अच्युत पद का प्रयोग किया है ।

यदि भगवान फिर से गोपियों में काम आदि को जाग्रत करे तो फिर गोपियों के ताप का नाश नहीं होगा ।

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं ( शिवम् ) ।

भगवान का श्री हस्त ही कल्याण रूप है, कारण कि भगवान आनन्द रूप हैं भगवान का श्रीहस्त शिव-कल्याण रूप है, इसलिये आनन्द का साधन है, भगवान का श्रीहस्त है, इसलिये आनन्द रूप है, अतः गोपियों में ताप उत्पन्न नहीं करेगा ।। १४ ।।

**( सुबो० ) एवं षण्णां स्वरूपमुक्त्वा स्वरूपेण सर्वासां साधारणीं लीलामाह गोप्य इति ।**

इस प्रकार ऐश्वर्य आदि छैगुण रूप छै गोपियों का स्वरूप वर्णन करके अब आगे श्लोक में भगवान के स्वरूप के साथ सब गोपियों की साधारण लीला शुकदेव जी कहते हैं ।

**गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।**
**गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां गायन्त्यस्तं विजह्रिरे ॥ १५ ॥**

**पदपदार्थ**—( गोप्यः ) गोपियां ( श्रियः ) लक्ष्मी जी का ( एकान्तवल्लभम् ) परम प्रिय ( अच्युतं ) अच्युत भगवान ( कान्तं ) सुख का अन्त जिसमें, इस प्रकार के पति को ( लब्ध्वा ) प्राप्त करके ( तद्दोर्भ्यां ) भगवान के हस्तों से ( गृहीतकण्ठ्यः ) ग्रहण किया कण्ठ जिनका, इस प्रकार की गोपियां ( तं ) उस भगवान को ( गायन्त्यः ) गुण गान करतीं ( विजह्रिरे ) विहार करने लगीं ।। १५ ।।

**भावार्थ**—गोपियां लक्ष्मी जी का एकान्त-परम प्रिय अच्युत भगवान का कान्त प्राप्त करके भगवान ने अपने दोनों हस्तों से ग्रहण किया कण्ठ जिनका इस प्रकार की गोपियां प्रभुका गुणगान करती विहार करने लगीं ।। १५ ।।

**( सुबो० ) अच्युतः कान्तो भगवानेव भवति । अन्तर्बहिश्च नित्यानन्ददायी । अत एव सर्वस्त्रीणां मूलभूतायाः श्रिय एकान्ततो वल्लभः परमः प्रियः । तादृशं लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्रिरे । ननु परमानन्दे प्राप्ते क्रियाया अपगम एवोचितः, नतु पुनः क्रिया, तत्कथं विहार इति चेत्, तत्राह तद्दोर्भ्यां गृहीतकण्ठ्य इति । भगवत्क्रिययैव व्याप्ताः, न तु स्वक्रिया काचित् । कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वाद् गानं क्रिया च सम्भवतः । इयं क्रिया शक्तिरूपेति स्वातन्त्र्यं तासां निरूपितम् ॥ १५ ॥**

अच्युत-च्युतिरहित कान्त भगवान ही होता है, अन्य नहीं, और वह भगवान भीतर तथा बाहिर नित्य आनन्द देने वाला है, इसी से सब स्त्रियों की मूलभूत लक्ष्मी जी को भगवान एकान्त वल्लभ—अर्थात् परम प्रिय है ।

गोपियां इस प्रकार के भगवान को कान्त प्राप्त करके उनका ही गुण गान करती विहार करने लगीं ।

यदि शंका करो कि परमानन्द प्राप्त होने पर फिर क्रिया नहीं होनी चाहिये, पुनः क्रिया करना उचित नहीं है, फिर भगवान के साथ गोपियों का विहार कैसे हुआ ।

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि ( तद्दोर्भ्यां गृहीतकण्ठ्यः ) भगवान ने दोनों हस्तों से गोपियों का कण्ठ ग्रहण कर लिया है, अतः भगवान की क्रिया ही गोपियों में व्याप्त है, गोपियों की कोई क्रिया नहीं है ।

भगवान ने गोपियों के कण्ठ में अपनी हस्त रूप क्रिया स्थापित की है, इसलिये गान तथा क्रिया का संभव होता है ।

‘गृहीतकण्ठ्यस्तद्दोर्भ्यां’ इस मूल के वाक्य से कण्ठ में भगवान ने क्रिया स्थापित की है, इसलिये कर्मेन्द्रियरूप वाणी का व्यापार—गान संपन्न हुआ है, कारण कि गान कण्ठ के अधीन है।

भगवान ने हस्तरूप क्रिया स्थापित की है, इसलिये ( विजह्रिरे ) इस वाक्य से सिद्ध विहाररूप क्रिया सिद्ध हो गई, यह क्रिया शक्ति रूप है, अर्थात् भगवान की सामर्थ्यरूप है । इसलिये गान तथा क्रिया में गोपियों की स्वतन्त्रता का निरूपण किया है । भगवान के समर्थ्य रूप शक्ति के कारण गोपियों के गान तथा क्रिया में स्वतन्त्रता होनी उचित ही है ।। १५ ।।

**( सुबो० ) अतः परं राधादामोदरवदुभयोर्नृत्यमाह कर्णेति ।**

प्रथम चौदह वे श्लोक के उपक्रम से नृत्य प्राप्त हो रहा है, फिर जो वाद्यों के कथन पूर्वक नृत्य आगे श्लोक में कहा है, उससे मालूम होता है कि प्रथम श्लोक में कहे नृत्य से आगे के श्लोक में कहे नृत्य में विशेषता है, इसलिये श्री महाप्रभु आभास में कहते हैं कि ‘अतः परं राधादामोदरवद् उभयोः नृत्यमाह’ इससे आगे राधादामोदर की तरह, अर्थात् एक कृष्ण और एक गोपी, इस प्रकार युगल स्वरूप का नृत्य कहते हैं ।

इस नृत्य में गोपी और भगवान तुल्य हैं, अर्थात् इस नृत्य में जिस प्रकार राधा दामोदर दोनों का ही नृत्य होता है, उसी प्रकार प्रत्येक गोपी के साथ भगवान का नृत्य है, यही पूर्व नृत्य से इस नृत्य में विशेषता है ।

रासलीला में समुदाय रमण, तथा प्रत्येक गोपी के साथ रमण कहेंगे, इसलिये उस रमण के अनुकूल भाव उद्दीपन करने के लिये नृत्य भी उसी उसी प्रकार का कहना चाहिये, इस में

समुदाय नृत्य प्रथम कहा है, अब आगे के श्लोक में प्रत्येक का नृत्य कहते हैं, अतः आभास में 'उभयोर्नृत्यं' कहा है अर्थात् एक एक गोपी के प्रति भगवान का भी एक एक स्वरूप हो गया है, एक स्वामिनी, एक भगवान, इस प्रकार से नृत्य किया है ।

इसमें दृष्टान्त दिया है कि 'राधादामोदरवत्' ।

जिस प्रकार प्रथम समुदाय रमण के अनन्तर युगलरस अनुभव करने के लिये एक गोपी को भगवान पृथक् ले गये थे, यह बात द्वितीय अध्याय में 'ततो गत्वा' १०।२७।३७। इस श्लोक की टिप्पणी में निरूपण की है, उसी प्रकार यहां भी युगल रस अनुभव करने के लिये यह नृत्य है, यहां पर इतना विशेष है कि पहिले भगवान ने एक गोपी को साथ ले जाकर एक के साथ ही युगल रस का अनुभव किया था, अन्य गोपियों को विरह का अनुभव हुआ था, किन्तु यहां सब गोपियों के साथ युगल रस का अनुभव किया है; 'राधादामोदरवत्' इस वाक्य में षष्ठी के अर्थ में वति प्रत्यय हुआ है, इसलिये राधा दामोदर के रमण की तरह गोपी, और भगवान दोनों का रमण है, यह अर्थ है, युगल रस अनुभव करने के लिये ही समान धर्म निरूपण किया है ।

'सहस्रनाम' नामावली में भगवान् जिस गोपा को अपने साथ ले गये थे उसका 'राधा' नाम कहा है, इससे उक्त वर्णन जानना चाहिये ।

नृत्य के प्रकार में भले ही भेद हो, किन्तु फल में भेद नहीं हो तो वास्तविक भेद नहीं कहा जाता है ।

इस नृत्य में प्रथम नृत्य से दोनों की तुल्यता ही विशेष है, इसलिये यह भी पूर्व नृत्य ही है ।

यदि कहो कि फल में जब विशेषता नहीं है तो फिर साधननिष्ठ विशेष का अङ्गीकार करना योग्य नहीं है, अतः फिर नृत्य का कथन भी उचित नहीं है ।

इस प्रकार पूर्व कथन में अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं कि 'अथवा' अथवा इसके आवेश से उत्पन्न मर्यादा रहित जो क्रिया है, उसको बिहार कहते हैं, इसका पन्द्रहवें श्लोक में 'विजह्रिरे' इस पद से किया है ।

'जब उत्तर वस्तु का प्रारम्भ होता है, तब प्रथम वस्तु की समाप्ति हो जाती है' इस न्याय से यहां पूर्व नृत्य का विराम सूचन किया है, इस प्रकार से पूर्व नृत्य की समाप्ति होने पर फिर आगे के श्लोक में जो नृत्य का वर्णन किया है, वह उचित नहीं है ।

यदि इस आगे के श्लोक में कहा नृत्य प्रथम श्लोक में कहे अनुसार होता तो प्रथम श्लोक में कहे नृत्य का त्याग नहीं होता, कारण कि नृत्य इसके उत्पन्न करने के लिये ही किया है, फिर इसकी उत्पत्ति के बिना नृत्य का त्याग सम्भव हो नहीं सकता है, इसलिये अपूर्व रसके लिये ही यहां अपूर्व ही नृत्य कहा है, इस प्रकार ज्ञापन होता है, इसी बात को श्री महाप्रभु 'अतः परं राधादामोदरवत्' इत्यादि से कहते हैं, अर्थात् पन्द्रहवें श्लोक में जो विहार का वर्णन किया है, उस विहार का उत्पन्न करने वाला रस का आविर्भाव पूर्व नृत्य का फल है, और इस सोलहवें श्लोक में जा नृत्य कहा है, उसका फल अपूर्व रस का आविर्भाव है ।

इस प्रकार फलभेद से, तथा प्रकारभेद से प्रथम श्लोक में कहा नृत्य तथा इस १६ वें श्लोक में कहा नृत्य दोनों में भेद होने से फिर नृत्य के कथन में कोई पुनरुक्ति दोष की आपत्ति नहीं है ।

अब 'राधादामोदरवत्' इस पर स्वतन्त्र लेख का भाषानुवाद कहते हैं। यहां पर इस बात का विचार करते हैं कि आगे 'एवं परिष्वङ्ग' इत्यादि श्लोक १७ में समुदाय रमण निरूपण करके 'कृत्वा तावन्तम्' इस तीसवें श्लोक में प्रत्येक गोपी के साथ रमण निरूपण किया है ।

प्रत्येक गोपी के साथ रमण भगवान् का जिस समय उसी प्रकार के रस का उद्बोध होता है, उस समय हो सकता है ।

रमण में इसको जाग्रत करने वाला नृत्य ही है, नृत्य भी प्रत्येक में अपेक्षित है, नहीं तो प्रत्येक रमण के उपयोगी प्रत्येक रस जाग्रत नहीं होने पर रमण सिद्ध नहीं होता है, इसलिये यहां प्रत्येक के नृत्य का निरूपण किया है ।

नृत्य में केवल भावात्मक रस का अभिनय होता है, और रमण में तो क्रियाद्वारा सब इन्द्रियों से रस का अनुभव होता है, इसी से 'पं मन्येरन्' इस अध्याय के चौथे श्लोक में कहा है ।

इसी अध्याय में 'पादन्यासैः' इस ८ वे श्लोक से स्वामिनियों का गाढ नृत्य कहा है, जिसमें अन्य स्फूर्ति का अभाव कहा है ।

उसके अनन्तर ९ वें श्लोक में भगवत्स्फूर्ति सहित मध्य नृत्य कहा है, उस मध्य नृत्य में जिस प्रकार नटों को समाज से सन्तोष उत्पादन होता है, उस प्रकार गोपियों द्वारा भगवान् को सन्तोष उत्पादन करना, इस नृत्य का प्रयोजन है, और अपने विषय में भाव उत्पन्न करने के लिये उसी प्रकार के भाव से प्रत्येक का गान है, फिर 'काचित्' अ० ३०।१० इत्यादि छै भगवान् के ऐश्वर्य आदि गुणों से गोपियों में गान रस के आवेश से शास्त्रमर्यादा पूर्वक नृत्य का परित्याग कर भाव से ही विहार-मुख्य लीला का अभिनय रूप करती हुई, इसके अनन्तर विहार का भी परित्याग कर, भाव से ही केवल भगवान् के स्वरूप का परिग्रह करके युगलनृत्य का वर्णन प्रत्येक गोपी में रस जाग्रत करने के लिये 'कर्णोत्पल' इत्यादि १६ वें श्लोक में कहा है ।

इसमें यह प्रकार है कि जिस भगवान् का अपने निकटवर्ती होने से मान है, उस भगवान् का इस समय अपने सम्बन्धी होने से मान है, अर्थात् राधा, दामोदर जिस प्रकार सर्वथा एक हुए, दोनों आलम्बन रूप से एकरस रूप हैं, उसी प्रकार सब गोपियां भाव से भगवान् में एक हुई नृत्य करती थीं ।

वह नृत्य लोक में जिस प्रकार स्त्रियां मण्डल नृत्य में हस्त छोड़कर आलिङ्गन करके प्रत्येक नाचती हैं, और उसी प्रकार से ही मण्डल में हस्तों को छोड़कर अनुवर्तन–चौगोल–मंडलाकार नाचती हैं, उसी प्रकार गोपियां भी भाव से हस्त परित्याग कर भगवान् का आलिङ्गन करके उसी प्रकार नृत्य करती हैं, अतः हस्त परित्याग से मुख्यमण्डल के न होने पर भी मण्डल के अनुवर्तन होने के कारण रास गोष्ठी की तरह ही है, इसलिये आचार्यों ने गोष्ठीमात्र कहा है, गोष्ठी जिस प्रकार नृत्य के लिये सर्वत्र एकत्रित होती है, उसका नाम है, यह गोष्ठी नृत्यारम्भ से पूर्व होती है ।

उसी प्रकार यहां भी पूर्वनृत्य का परित्याग करके भगवान् के साथ सम्बन्धित गोपियों की भावना से लीला का अनुकरण करने पर नृत्य करना नृत्य गोष्ठी ही है ।

ऊपर कहे अनुसार मालूम होता है यहां गाढ नृत्य में स्वामिनियों का तथा भगवान् का विनियोग होने से 'नृत्यन्त उच्चर्जगुः' इस ९वे श्लोक में तथा 'नृत्यती गायती' इस १४ वें श्लोक में गोपियों ही का गान सम्भव है, 'काचित्समं मुकुन्देन' इस १० वें श्लोक की तरह भगवान् का भी गान सम्भव नहीं है ।

गंधर्वपतियों को तो मुख्य लीलानुकरण नृत्य की योग्यता नहीं है, इसलियें इनको दर्शन नहीं होता है, इसीसे यहां गंधर्वपतियों के उपयोगी गान नहीं है ।

किन्तु यहां स्वामिनियों के तो केशपाश में स्थित माला का गिरना कहा है, इसलिये यहां उच्च स्वर से गान भ्रमरों की तरह गुञ्जार रूप है ।

एकवचन इसलिये कहा है कि सबने एकरूपता से गान किया है, अथवा प्रत्येक के नृत्य में प्रत्येक गोपी को एक एक भगवान् के साथ गान का सूचन एकवचन कर रहा है ।

यह गाढ नृत्य है, इसलिये इसमें कानों में कमल जो स्थापन किये हैं, वे गिर नहीं सकते हैं, इस बात को 'कर्णोत्पल' इत्यादि से कहा है । मुखकमल सम्बन्धी मकरन्द के सदृश पसीना के कणों की शोभा कहने से श्रम का अभाव सूचन किया है, अतएव 'कृष्णाभिमर्शमुदिता' १०।३०।९ गोपियां कृष्ण के स्पर्श ते आनन्दयुक्त हुई', इस श्लोक में भगवान् के श्रीहस्त मात्र के सम्बन्ध से श्रम का अभाव कहा है, फिर सम्पूर्ण स्वरूप का सम्बन्ध होने पर श्रम की सम्भावना भी कहां हो सकती है, इस प्रकार कैमुतिक न्याय का बोध किया है, इस प्रकार के नृत्य से प्रत्येक गोपी में रस जाग्रत होने पर प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् का आगे रमण निर्विघ्न होगा, नहीं तो समुदाय नृत्य से समुदाय रस जाग्रत होने पर समुदाय रमण ही होता, अतः प्रत्येक गोपी के साथ उतने ही स्वरूप से भगवान का रमण होने में प्रत्येक गोपी में रसोद्बोध का कारण निरूपण किया है, अतः सब प्रकारका रमण आगे कारण सहित सिद्ध होगा, इसीसे यह नृत्य भिन्न प्रकार से निरूपण किया है, इस नृत्य का स्वरूप हमारे आचार्यों ने अति गूढ रीति से 'अतः परं राधादामोदरवत्' इस दृष्टान्त से कहा है ।

अब इसपर दूसरा स्वतन्त्र लेख है, उसका अनुवाद कहते हैं । अथवा यहां गान करते वाले भ्रमर निरूपण किये हैं, भ्रमर मकरन्द की अपेक्षा करने वाले हैं, मकरन्द पुष्पों में रहता है, पुष्प वियुक्त-पृथक् पृथक् हुए मकरन्दरहित होते हैं, इसलिये अपने नृत्य के अनुरूप भ्रमरों ने जो गान किया, उस गान से अति प्रसन्न होकर गोपियों ने भ्रमरों को अपनी माला हीं दे दी, नहीं तो रस के लिये अपने केशों में शोभाहेतु से धारण की गई माला की गोपियां उपेक्षा नहीं करतीं, अतः यहां भ्रमरों की गाननिपुणता, तथा गोपियों की उसकी जानकारी ध्वनित होती है, यहां भ्रमर तथा भ्रमरी, इसमें एकशेष हो जाने से दोनों का ही वर्णन किया है, इससे स्त्री पुरुष के भेद से ज्ञान में द्विविधता कही है । शोभा के लिये धारण की गई माला भी विचित्र हेतुभूत बहुत सी हैं, उनके बीच में स्थित एक एक माला गोपियों ने भ्रमरों को दी है, इस प्रकार आगे रस के लिये केशों में शोभासंपत्ति भी है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये केशपाश पद छोड़कर मूल में केश पद कहा है ।

यदि कहो कि भ्रमरों को एक एक माला का अल्पदान देने से गोपियों के उदारतागुण में हानि होगी ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भ्रमर भक्त हैं, इसलिये प्रभु के रस में उपयोगी जो वस्तु है, उसके लेने की इच्छा नहीं करते हैं, अपने किये गान से उत्पन्न जो गोपियों की प्रसन्नता उस प्रसन्नता को प्रसिद्ध करने के लिये एक एक माला का दान प्रसादरूप से ग्रहण करना ही भ्रमरों ने उचित समझा, इससे गोपियों की शोभामें भी प्रतिबन्ध नहीं हुआ, कारण कि उतने ही से भ्रमरों के मनोरथ की पूर्ति हो गई । यदि कहो कि माला गान में प्रतिबन्ध करने वाली थीं, उस समय मालाओं का उपयोग नहीं था, फिर उनके दान से ही क्या प्रयोजन था ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि रासगोष्ठी में, जिस समय गान का समय नहीं था, उस समय भ्रमरों को भक्त होने के कारण अन्य पुष्पों की अपेक्षा से प्रभु द्वारा उपभुक्त हुईं, तथा प्रभु के गुण से प्राप्त माला ही उपजीवन के लिये युक्त हैं ?

यदि कहो कि भक्त भ्रमरों को प्रभु द्वारा माला उपभुक्त का ज्ञान कैसे हुआ ?

तो इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि जिस जिस गोपी को अधरपान करने की इच्छा करने वाले भगवान् अपने श्रीहस्त में खींचते हैं और उस खींचने में केशपाशों की माला टूट कर गिर गई हैं, वहां भ्रमर पीछे पीछे भ्रमण कर रहे हैं, इसलिये उपभुक्त माला का ज्ञान होता है । आगे भी २३वें श्लोक में भ्रमरों को भगवान् की उपभुक्त माला का सम्बन्ध होगा 'अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः स्वकुचकुंकुमरञ्जितायाः गंधर्वपालिभिः' यहां सम्बन्ध प्रकाशित करेंगे । नहीं तो यहां मालाके जो दो विशेषण कहे हैं, वे सङ्गत नहीं होते हैं ।

गोपियों की तो इच्छा थी कि सभी मालाएँ भ्रमरों के लिये देदें किन्तु इनके हस्त मण्डल में लगे हुए हैं, इसलिये हस्तों से माला दान नहीं कर सकती थीं, अतः उक्त प्रकार से केश शिथिल होने पर जो गोपियों की माला गिर गई थीं, वे ही माला उपेक्षा करने से भ्रमरों को दे दी और जो नहीं गिरी थी, वे नहीं दी, वे तो केशों में ही स्थित रही । इस कारण से गोपियों की उदारता में कोई हानि नहीं हुई ।

'रास गोष्ठी—नृत्य समाज को कहते हैं, उसमें गान करने वाले की अपेक्षा अवश्य होती हैं, नृत्य करने से गोपियों को गान करना बन नहीं सकता है, देवता तथा अन्य पुरुष स्त्रियों का प्रवेश अधिकार वहां नहीं है, इसलिये भी गान करना संभव नहीं होता है, भ्रमर पुरुष भी हैं, तो भी बलवान् प्रयोजन के अनुरोध से, तथा विजातीय होने से विरोध का अभाव है, अतः गान करना भ्रमरों को प्राप्त होता है, इसलिये रासगोष्ठी पद है, अत्यन्त रहस्य लीलान्तर में तो भ्रमरों का भी प्रयोजन न होने से इनका प्रवेश नहीं है, यह बात बिना कहे ही सिद्ध होती है, वास्तव में तो रास में भगवान् के साथ मण्डलाकार से चारों ओर भ्रमण कर रही गोपियों का नृत्य कहा है, इसलिये नृत्य के उपयोगी गान करने वाले भ्रमर परिभ्रमण कर रहीं गोपियों के सङ्ग में ही कहने चाहिये, औरों के स्वल्प चलने से भी गान संभव नहीं होता है, कारण कि परिभ्रमण से स्वर ताल आदि भङ्ग हो जाते हैं, और भ्रमरों का तो स्वभाव है कि वे परिभ्रमण करते गान भी करते हैं, इसलिये विशेष रूप से उस समय भ्रमरों को ही गायकत्व योग्य है, यह सब बात भ्रमर पद कहने से व्यक्त होती है, भ्रमर ही उस रससमाज के अनुकूल भाववान् हैं, इसलिये 'भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्' इस प्रकार समस्त पद कहा है ।

पुरुष होने पर भी भ्रमर अत्यन्त अन्तरङ्ग है, अतः निरन्तर अपने समीप रहने का वर्णन भगवान् ने १०।१५।६ में दाऊजी से किया है, 'प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्' प्राय करके ये भ्रमर मुनिगण आप के मुख्य हैं, वन में भी गूढ निर्दोष आत्मदैवको नहीं त्याग करते हैं, अर्थात् निरन्तर समीप में रहते हैं, अब इससे अधिक विस्तार क्या कहें ।

**कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म**
**वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।**

**गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश-**
**स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ १६ ॥**

**पदपदार्थ**—( कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मवक्त्रश्रियः ) धारण किये कमल सहित अलकों के अलंकाररूप स्थान कपोलों में पसीनाओं से मुख में कोई अलौकिक शोभा प्राप्त वाली ( स्वकेशस्रस्तस्रजः ) अपने केशों से गिर गयीं मालाएँ जिनकी इस प्रकार की ( गोप्यः ) गोपियां ( भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ) भ्रमर जिसमें गान करने वाले इस प्रकार की रास गोष्ठी में–राससमाज में ( वलयनूपुरघोषवाद्यैः ) कंकण और नूपुर तथा किङ्कणी वाद्यों सहित ( भगवता ) भगवान् के (समं) साथ अथवा तुल्य (ननृतुः) नृत्य करती थीं।

**भावार्थ**—कानों में धारण किये कमल सहित अलक भ्रमर की तरह उनके अलंकरणरूप स्थान कपोलों में जो पसीनाओं से गोपियों के मुख में अलौकिक शोभा हो गई, और गोपियों के केशोंसे मालाएँ नीचे गिर गयीं, इस प्रकार की गोपियां भ्रमर जिसमें गान करनेवाले इस प्रकार की रासगोष्ठी–नृत्यसमाज में कंकण तथा नूपुर और किंकिणी वाद्यों सहित भगवान् के साथ अथवा तुल्य गोपियां नृत्य करती थीं ॥ १६ ॥

( सुबो० ) रासार्थमेवैतदपि, परं प्रत्येकं रस उत्पद्यत इति गोष्ठीमात्रमुक्तम्। उभयोर्गाढनृत्ये विनियोगात्। भ्रमरो गायकः। वाद्यन्तु पूर्ववदेव भविष्यति। तदाह वलयनूपुरघोषवाद्यैरिति। वलयानां नूपुराणां घोषशब्देन किङ्किणीनां शब्दा एव वाद्यशब्दाः। अत्यन्तं नृत्याभिनिवेशार्थं स्वकेशात् स्रस्ताः स्रजो यासामित्युक्तम्। ( यद्वा ) गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, ते च मकरन्दार्थिनः। स च पुष्पेष्वेव तिष्ठति। तानि च वियुक्तानि तद्रहितानि च भवन्तीति स्वनृत्यानुरूपगानकरणादतिप्रसन्नास्तेभ्यः स्रज एव दत्तवत्यः। अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन धृतानां ( श्रान्तानां इति पाठः ) तासामुपेक्षा न भवेत्। ( तेन भ्रमराणां गाननैपुण्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते। ) नृत्यारम्भे तासां शोभामाह कर्णेति। अन्यथा पूर्वोक्तनृत्येन श्रान्तानां पुनर्नृत्यमनुचितमेव स्यात। न वा रसायाम्। कर्णे उत्पलस्थापनं तस्य अपातनेचातुर्यार्थम्। तत्सहिता अलकाः भ्रमरा इव रसपातारः। तेषां विटङ्कः अलङ्करणरूपं स्थानम्। एतादृशौ कपोलौ। तत्र यो घर्मः अन्तरुद्गतश्रमजलं नृत्याभिनिवेशाज्जातम्। तैः कृत्वा वक्त्रे श्रीरलौकिकी काचित् सम्पन्ना। यथा मुक्ताभिर्मण्डितं भवति कपोलद्वयम्। अनेन मुखे श्रमो निवारितः। ताभिः सह भगवतो नृत्ये अनुभावकश्च भवति। स्वतो वा। क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता। गोप्य इति। भगवत एव तासामेतावत्त्वम्, न स्वत इति ज्ञापितम्। अतो भगवता समम्, यथा यथा भगवान् नृत्यति, तथा तथा ता अपि नृत्यन्तीति ॥ १६ ॥

बहुत सी नाचने वाली जिसमे हों, उस नृत्य विशेष का नाम रास है, यह बात पहिले कह चुके हैं, इसलिये प्रत्येक गोपी के पास भगवान् का रहना रास के अनुकूल नहीं होगा।

इस शंका के उत्तर में श्री महाप्रभु जी कहते हैं कि 'रासार्थमेवैतदपि' यह भी प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् का नृत्य रास के लिये-अर्थात् रसों का समूह उत्पन्न करने के लिये ही प्रति युवती भेद से प्रकट हुआ है।

भगवान् ने जितनी गोपी, उतने रूप धारण कर[illegible] प्रत्येक गोपी में रस उत्पन्न किया है, इतने करने से बहुनर्तकी युक्त में क्षति नहीं आती है।

केवल एकत्रित एक रस न होने से प्रथम द्वितीय श्लोक की तरह यहां 'क्रीडाम्' इस प्रकार एक वचन नहीं कहा है, किन्तु प्रत्येक गोपी में रस उत्पन्न करने के लिये 'गोष्ठी' पद कहा है।

गोष्ठी में अपने अपने अधिकार के अनुसार सभी भिन्न-भिन्न रस का अनुभव करती हैं।

यदि कहो कि यह नृत्य उभय निरूपित है तो फिर मूल में ( गोप्यः ) इस बहुवचन की संगति कैसे होगी।

इसका समाधान श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी में किया है कि केवल प्रत्येक में रस उत्पन्न करने के लिये यहां गोष्ठीमात्र कहा है, और टिप्पणी के कहे अनुसार नृत्यान्तर सिद्ध होने पर यहां प्रत्येक का पर्याय से नृत्य है, इसलिये अन्य गोपियों को दर्शन करने से सभ्यत्व बोधन करने के लिये बहुवचन है, कारण कि दोनों का गाढ नृत्य में विनियोग हुआ है।

भ्रमर यहां गान करने वाले हैं।

यदि कहो कि प्रथम की तरह वाद्य तो होंगे, अर्थात् प्रथम सामान्य नृत्य में 'किङ्किणीनाञ्च योषिताम्' इस छठे श्लोक में कथित उन वाद्यों का यहाँ भी कहना आवश्यक है, फिर यहां क्यों नहीं कहे।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'वलयनूपुरघोषवाद्यैः' कङ्कणों का नूपुरों का और घोष शब्द से किङ्किणियों का शब्द ही वाद्य शब्द है।

"उच्चैर्घुष्टं तु घोषणा' इस कोश से 'घोषयन्तीति' घोषाः, 'घोष' शब्द ऊँचे शब्द का कहने वाला है, इसलिये इससे किंकिणी का भी शब्द ग्रहण होने से पृथक् नहीं कहा है, तीनों वाद्यों का शब्द हो रहा है। वाद्य शब्द अजहत् स्वार्थ से वाद्य शब्द का बोधक है।

नृत्य मे अत्यन्त अभिनिवेश-आसक्ति सूचन करने के लिये गोपियों के केश से मालाएं गिर गयी हैं, यह कहा है।

अथवा गान करने वाले तो भ्रमर निरूपण किये हैं, भ्रमरों को मकरन्द-पुष्प-रस की अपेक्षा होती है, पुष्परस पुष्पों में ही रहता है, जिस समय पुष्प पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, उस समय पुष्प में रस नहीं रहता है, इसलिये अपने नृत्य के अनुकूल भ्रमरों के गान करने से अत्यन्त प्रसन्न गोपियां भ्रमरों के लिये पुष्पमालाओं को ही देती हुई' इस प्रकार नहीं मानते हैं तो रस के लिये अपने केशों में शोभा के कारण से धारण की हुई मालाओं की गोपियां उपेक्षा नहीं करतीं, इससे मालूम होता है कि भ्रमरों की गान करने में निपुणता, और प्रभु की प्रिया गोपियों का गान समझना ध्वनित होता है।

नृत्य के आरम्भ में गोपियों की शोभा का वर्णन शुकदेव जी करते हैं 'कर्णोत्पल' इत्यादि से।

यदि शोभा का वर्णन शुकदेव जी नहीं करें तो प्रथम नृत्य से थकी हुई' गोपियों को फिर नृत्य करना अनुचित ही हो जाय और रसमय भी न हों। कान में जो कमल स्थापन किया है, वह नीचे नहीं गिर जाय, इस प्रकार की चतुराई दिखाने के लिये है, कमल सहित अलकावली

भ्रमरों की तरह रस पीने वाली है, इन अलकों का जो विटंक-अलंकरण रूप स्थान, अर्थात् शोभा देने वाला स्थान कपोल हैं, उन दोनों कपोलों में जो घर्म-भीतर से निकला हुआ श्रम का जल-पसीना, नृत्य के अभिनिवेश-आसक्ति से उत्पन्न हुआ, उसके जलकणों से जिस प्रकार मोतियों से दोनों कपोल शोभित होते हैं, उस प्रकार की गोपियों के मुख में कोई अलौकिक शोभा प्राप्त हो गई है।

इस प्रकार मुख की शोभा वर्णन करने से श्रम का अभाव सूचन किया है, अर्थात् गोपियों के मुख नृत्य की थकावट से मुरझाये नहीं, किन्तु शोभित हो गये, गोपियों के मुख में पसीना की शोभा का दर्शन चुम्बन आदि से अनुभाव कराने वाला धर्म है, इस बात को श्री महाप्रभु जी कहते हैं ( ताभिः सह ) ।

गोपियों के साथ भगवान् का नृत्य अनुभाव कराता है ।

यदि कहो कि उद्बुद्ध रसात्मक को अनुभावक की अपेक्षा नहीं होती है, इस प्रकार अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं कि ( स्वतोवा ) गोपियों को श्रम नहीं हुआ, कारण कि श्रम का अभाव' ज्ञापन करने वाली प्रस्वेद-शोभा कथन से रस आवेश द्वारा ही यह नृत्य हो रहा है, इसलिये इस प्रकार का नृत्य होने पर अपने आप ही प्रथम विहार की निवृत्ति हो गई, इस प्रकार सूचन किया है। इस पक्ष में भी 'उत्तरस्य आदिना पूर्वस्यावसानम्' उत्तर कार्य का जिस समय प्रारम्भ होता है, उस समय पूर्व कार्य समाप्त हो जाता है, यह न्याय यहां भी जानना चाहिये, इससे 'स्वतः' इसके अर्थ से ही इस प्रकार के अर्थ का बोध होता है, न्याय तो प्रथम कहा है, इससे पुष्ट अर्थ नहीं होता है, इस प्रकार अरुचि होने से पक्षान्तर कहते हैं 'क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता' यह वाक्य मूल शुवोधिनी में कहा है, इसको समास 'क्रीडाया अनिवृत्तिः क्रीडानिवृत्तिः' अर्थात् क्रीडा की निवृत्ति नहीं, गोपियों को श्रम का अभाव सूचन करने से पूर्व क्रीडा की निवृत्ति गोपियां 'स्वतः' स्वामिनी की शक्ति से कर नही सकीं इस प्रकार सूचन किया है।

आचार्य वल्लभ जी कहते हैं 'स्वतो वा' इसका सम्बन्ध क्रीडानिवृत्ति के साथ नहीं है, किन्तु यह स्वतन्त्र वाक्य है, अतः इसका अर्थ करते हैं कि गोपियाँ पसीना से शोभित हैं, इसका दूसरा कारण कहते हैं 'स्वतो' वा गोपियों का मुख अपने आप भी शोभित हो रहा है।

इस पक्ष में सहके अर्थ में 'समम्' नहीं है, किन्तु तुल्य अर्थ में है, इसलिये नृत्य में भगवान् की प्रधानता है, अतः 'एताभिः सह' गोपियों ने भगवान के तुल्य नृत्य किया है, भगवान ने गोपियों को अपनी तुल्यता सम्पादन की है, अतः (गोपियों ने जो भगवान् के तुल्य नृत्य किया है वह 'स्वतः' अपने आप नहीं किया है। ) भगवान के नृत्य को देखकर उसके अनुसार गोपियां नाचती थीं इसलिये भगवान की प्रधानता है।

मूल में 'गोप्यः' यह पद कहा है, इसका तात्पर्य यह है कि भगवान ने ही यह सब नृत्य आदि कार्य गोपियों का सम्पन्न किया है, गोपियों ने 'स्वतः' अपने आप नहीं किया, पूर्व शिक्षा से भी भगवान के तुल्य गोपियों ने नहीं किया, करण कि गोपजाति में, उसमें भी कुलवधुओं में नृत्य का शिक्षण करना सम्भव नहीं होता है, इसलिये भगवान ने ही सम्पन्न किया है। अर्थात् गोपियों में इस प्रकार का रस प्रकट हुआ कि जिससे इस प्रकार का नृत्य 'स्वतः' अपने आप ही हुआ, इस बात को ज्ञापन करने के लिये 'गोप्यः' यह पद कहा है।

गोपियों में भगवान ने तुल्यता सम्पादन की है, इसलिये शुकदेव जी कहते हैं कि 'भगवता समं' जैसे जैसे भगवान नाचते हैं, वैसे वैसे गोपियां भी नृत्य करती हैं ।। १६ ।।

**( सुबो० ) एवं प्रादुर्भूते रसे अत्यन्तोद्गमनार्थं साक्षात्कामशास्त्रोक्ताश्चेष्टा निरूपयति एवमिति ।**

इस प्रकार प्रकट रस होने पर इस रस के अत्यन्त उद्गम के लिये अर्थात् वृद्धि के लिये साक्षात् कामशास्त्र में कहीं क्रियाओं का निरूपण करते हैं। नृत्य आदि परम्परा से काम जागृत करते हैं, और आलिङ्गन आदि साक्षात् काम जागृत करने करते हैं, अतः यहां आलिङ्गन आदि चेष्टाओं का वर्णन शुकदेव जी आगे के श्लोक में कहते हैं।

**एवं परिष्वङ्गकराभिमर्शस्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ।**
**रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥१७॥**

**पदपदार्थ**—(यथा) जिस प्रकार ( अर्भकः ) बालक ( स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ) अपने प्रतिबिम्ब-शीशा इत्यादि में अपने शरीर की परछाई दूसरा स्वरूप, उसको देखकर क्रीड़ा करता है, ( एवं ) उसी प्रकार ( रमेशः ) लक्ष्मीपति भगवान ( परिष्वङ्ग-कराभिमर्श-स्निग्धेक्षणोद्दामविलासहासैः ) परिष्वङ्ग—आलिङ्गन, कराभिमर्श-हस्तस्पर्श, स्निग्धेक्षण—स्नेहसे ईक्षण-कटाक्ष, उद्दामविलास-मर्यादा रहित भोग, हास-हास्य, इत्यादि से ( व्रजसुन्दरीभिः ) गोपियों के साथ ( रेमे ) रमण किया ।। १७ ।।

**भाषार्थ**—जिस प्रकार बालक शीशा जल आदि में अपना प्रतिबिम्ब देखकर क्रीडा करता है—खेलता है, उसी प्रकार लक्ष्मीपति भगवान आलिङ्गन हस्तस्पर्श स्नेहपूर्वक ईक्षण और मर्यादा रहित भोग हास्य आदि से व्रजसुन्दरियों के साथ रमण करते रहे ।। १७ ।।

( सुबो० ) आलिङ्गनादयस्तत्र निरूपिताः । एवमेव रसोद्गमनार्थं परिष्वङ्गः, आलिङ्गनम् । अतः कराभिमर्शः तात्तदवयवेषु भगवद्धस्तस्पर्शः । ततः स्निग्धेक्षणं भावोद्गारि । तत उद्दामो विलासः, अमर्यादो भोगः । ततो हास्यानि पूर्णमनोरथानाम् । एवं परिष्वङ्गादिहासान्ताः सर्वासु । ननु प्राकृतीभि- कथं रेमे, तत्राह रमेश इति । रमाया ईशः । सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया निविष्टा । ता अपि अधिष्ठानयोग्या इत्याह व्रजसुंदरीभिरिति । नन्वात्मारामः कथमेताभी रेमे, लक्ष्मीस्तु ब्रह्मानन्द इति रमणमुचितमपि । एतास्त्वावेशोऽप्यनुचितः, ब्रह्मभावाभावादिति चेत्, तत्राह यथार्भक इति । बालको हि दर्पणजलादिकं पुरतः स्थापयित्वा, तत्र तत्रात्मानं पश्यन् रमते । तथा भगवानपि स्वसामर्थ्यं स्वरूपं वा तत्र स्थापयित्वा, ब्रह्म ब्रह्मानन्द चाविर्भावयित्वा रेमे । नन्वेतदप्यनुचितम्, किमनेनेति चेत्, तत्राह यथार्भकः । यथा बाललीलां कृतवान्, तथैतदपि कृतवानित्यर्थः । यद्वा । कदाचित्प्रकारसाम्येऽपि नैतद्रसानुभवो लक्ष्म्यां भवितुमर्हति, किन्त्वेतास्वेवेति ज्ञापयति पदद्वयेन, रमेशो व्रजसुन्दरीभिरिति । रमाया ईशः स्वामी भर्त्तेति यावत् । एतास्तु व्रजसम्बन्धिन्यः सुन्दर्यो, न तु विवाहिता इति । रमारमणदशायां एतादृग्रसानुभवो नोभयोरपि संभवति । रसस्वरूपस्यैव तादृशत्वादिति भावः । नन्वीश्वरे नेदमुचितमित्यत आह यथा

भंक इति । 'सम्मुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं दृष्ट्वे' त्यादिवाक्यनिरूपितमुग्धलीला वान्यथा निरूप्यते । पूर्णज्ञानोऽपि तद्रसस्वरूपस्य तथात्वात् । तथेहापि 'रसो वै स' इति श्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन स्वरूपात्मकमेवेति तदुच्यत इति नानुपपत्तिः काचित् । शङ्काया एवानुदयादिति भावः । एतेन यथा प्रभुस्तद्भावो वा, तथैता एतद्भावोपीति ज्ञापितं भवति । तथा प्रतिबिम्बस्वभावात् । अत्र रमणं बहूनामप्येकदा भवति द्वयोश्च । अग्रे तु प्रत्येकपर्यंवसानं वक्ष्यति ॥ १७ ॥

इसमें आलिङ्गन आदि का निरूपण किया है ।

यहां मूल में स्थित का अतिदेश प्रयोजन के अंश में ही है, प्रकार के अंश में नहीं है, इस आशय से कहते हैं कि रस प्रकट करने के लिये परिष्वङ्ग-भगवान् ने आलिङ्गन किया है । पश्चात् कराभिमर्श-गोपियों के भिन्न-भिन्न अवयवों में हस्त से स्पर्श किया है ।

पश्चात् स्निग्धेक्षण-भाव उत्पन्न करने वाला स्नेह से ईक्षण किया है, पश्चात् फिर उद्दाम-विलास-मर्यादारहित भोग किया है । फिर पीछे पूर्णमनोरथ वाली गोपियों का हास्य किया है ।

इस प्रकार आलिङ्गन से लेकर हास्यपर्यंन्त सब क्रियाएं भगवान् नें सब गोपियों के साथ में कीं ।

यदि यह शंका करो कि इस प्रकार सर्वभाव से रमण में इसका उद्गम नायक नायिका दोनों की तुल्यता में ही होता है, न्यूनाधिक भाव में तो नहीं होता है, और प्रकृत विषय में तो 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च' इत्यादिक श्रुति में भगवान् के तुल्य कोई भी नहीं है, इसलिये गोपियों को भगवान् के तुल्य न होने से किस प्रकार रस का उद्गम हो सकता है ।

इस शंका को हृदय में धारण करके श्रीमहाप्रभुजी कहते हैं कि, 'ननु प्रकृतीभिः कथं रेमे' प्राकृत गोपियों के साथ भगवान् ने कैसे रमण किया ?

प्राकृत शरीर तो अन्तर्गृहगता गोपियों का था, रासमण्डल में स्थित गोपियों का प्राकृत शरीर नहीं है, 'उक्तं पुरस्ताद्' १०।२९।१३ इस श्लोक के स्वतन्त्र विचारमें इसी बात को कहकर अर्थापत्ति से साधन किया है, मुल में प्राकृत अप्राकृत का भेद गोपियों में नहीं कहा है, और आचार्यों ने भी भेद का वर्णन नहीं किया है, इसलिये वहां इस प्रकार का आशय नहीं है, कारण कि यहां सिद्ध की तरह प्राकृतत्व का कथन है ।

इस शंका के उत्तर में गोपियो में प्राकृत, अप्राकृत का दोनों का बोध कराने के लिये, यहां जो प्राकृतत्वका वर्णन किया है, उस का तात्पर्य श्रीप्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि,

यहां पर गोपियों को अप्राकृत निरूपण करने के लिये प्राकृत धर्म पूर्वपक्ष में कहा है, किन्तु ये गोपियां प्राकृत नहीं है ।

तो फिर इनको मुल की दृष्टि से अप्राकृत सिद्ध कैसे सिद्ध किया जाय ? इस प्रकार की आकाङ्क्षा में अप्राकृत सिद्ध करने का प्रकार कहते हैं ।

सिद्धान्त में तो रमा,लक्ष्मी ब्रह्मानंद रूप है, इसलिये अप्राकृत है, और भगवान् तो रमा के ईश हैं, इसलिये भगवान् का अप्राकृत रमा में ही एक रमण करने का स्वभाव है, अतः इस श्लोक में भगवान् का जो रमण वर्णन किया है, इससे भी सिद्ध होता है कि भगवान् ने जिन

गोपियों के साथ रमण किया वे सब गोपी अप्राकृत हैं, कारण कि भगवान् का असाधारण स्वभाव ही, गोपियां अप्राकृत हैं, इसका परिचय कराता है, अर्थात् 'रेमे रमेशः' इसे पद से सिद्ध है ।

यदि कहो कि इस प्रकार ही श्री आचार्यों का आशय है, यह कैसे जाना जाय ।

तब इस प्रकार के जानने की इच्छा में कहते हैं कि ( किञ्च ) स्वामिनियों के अप्राकृतत्व होने में कौन सी शंका है, जब कि गोपियों के सम्बन्ध द्वारा रमा ने भी प्रभु का सम्बन्ध प्राप्त किया, और प्रकार से रमा को भगवान् का सम्बन्ध प्राप्त नहीं हुआ, इस बात को कहते हैं कि भगवान् रमा के ईश हैं, सर्वत्र गोपियो में रमा भी भगवान् की आज्ञा से प्रविष्ट हुई है, अर्थात् 'श्रयत इन्दिरा' १०।२८।१। इस श्लोक में इसी बात का वर्णन किया है ।

लक्ष्मी ने भगवान् का स्वामिनिमों में अत्यन्त स्नेह देखकर स्वयं लक्ष्मी स्वामिनियोंमें प्रविष्ट हो, इनके द्वारा प्रभु सम्बन्ध प्राप्त करने की इच्छा करती हुई भी गोपियों के महत्व की स्फूर्त्ति से स्वयं प्रविष्ट नहीं हो सकी,जब लक्ष्मी की आर्ति को देखकर, उसकी आर्ति निवृत्त करने के लिये भगवान् ने लक्ष्मी को आज्ञा दी, तब लक्ष्मी गोपियों में प्रविष्ट हुई, इसी बात को श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि 'रमापि भगवदाज्ञया' रमा भी भगवान् की आज्ञा से निविष्ट हुई है ।

उक्त वाक्य से गोपियों में रमा के प्रवेश में भगवान् की आज्ञा कारण कही है, इसलिये श्रीमदाचार्य का आशय उक्त प्रकार ही मालूम होता है कि भगवान् अप्राकृत वस्तु के साथ ही रमण करते हैं ।

गोपियों में भी लक्ष्मी के विराजने की योग्यता है, इस बात को शुकदेवजी कहते हैं, 'व्रजसुन्दरीभिः' ।

रमा के ईश भगवान् ने व्रजसुन्दरियों के साथ रमण किया ।

यदि कहो कि जब लक्ष्मी के अधिष्ठानयोग्य गोपियां हैं तो फिर रमा की अपेक्षा गोपियां न्यून की सी हुईं ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि गोपियों की यहां न्यूनता नहीं कही है, किन्तु उत्तमताका बोध किया है, इस बात को श्रीविट्ठलनाथजी कहते हैं कि ( अपरञ्च ) ।

जो नगर की स्त्रियों की तरह, हमारे अतिरिक्त-दूसरी किसी स्त्री के साथ भगवान् का सम्बन्ध नहीं हो, इस प्रकार की गोपियां के चित्त में कुटिलता होती तो रमा गोपियों में प्रवेश नहीं कर सकती थी, किन्तु गोपियां तो सर्वथा अङ्गीकृत व्रज सम्बन्धिनी हैं, इसलिये गोपियों में अत्यन्त सौजन्य आदि गुण स्थित हैं, इनका आराधन सुख से हो सकता है, अतः लक्ष्मी ने भी गोपियों में प्रवेश किया है, इस आशय से कहते हैं कि 'ता अपि अधिष्ठानयोग्याः' यदि यहाँ गोपियों की न्यूनभाव से योग्यता का बोधन होता तो मूल में व्रजपद नहीं कहते, किन्तु 'किल सुन्दरीभिः' इस प्रकार कहते, अतः मूल में व्रज पद होने से श्रीमदाचार्यों का भी यही आशय है, और 'न त- स्समः' इत्यादि से यद्यपि भगवान् के अतिरिक्त अन्य के साम्य का निषेध किया है, तथापि 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्डक-३।३।) इस श्रुति के अनुसार भगवान् जिस जीव का, वरण करते हैं तब वह जीव निर्लेप होकर भगवान् के तुल्य हो जाता है, अतः जीव भगवान् के समान भी हो जाता है ।

यहां भी गोपियां भगवान् के तुल्य हो गई हैं, इसलिये रस के उद्गम में कोई आपत्ति नहीं है, यह भाव है ।

यदि कहो कि इस प्रकार रस उद्गम-प्राकट्य विचार करने में भगवान् का रमण दूसरों के लिये हैं, इस प्रकार का रमण छब्बीसवे अध्याय में ही 'अरीरमत्' इस णिजन्त पद से कहा है, किन्तु यहां तो इस अध्याय में 'रेमे' इस पद से कर्ता को क्रिया फल बोध करने वाले आत्मनेपद से रमण को स्वार्थता-अर्थात् रमणफल भगवान् के लिये प्राप्त होता है, इसलिये गोपियों भगवान् के तुल्य भी हैं तो भी भिन्न गोपियों के साथ भगवान् का रमण आत्मारामत्व का भङ्ग करने वाला है, इसीसे श्रीमदाचार्यों ने सुबोधिनी में कहा है कि 'ननु आत्मरामः कथं एताभी रेमे'।

आचार्य इस शंका को इस प्रकार से कहते हैं कि आत्मा में-अर्थात् अपनी अर्धाङ्गी रमा में, दम्पतीभाव से रमण करने वाले रमेशने रमा के समक्ष गोपियों के साथ रमण कैसे किया ?

लक्ष्मी तो ब्रह्मानंदरूप होने के कारण आपकी अर्धाङ्गी है, अर्थात् स्वीया हैं, इसलिये भगवान् दूसरों के समक्ष लक्ष्मी के साथ रमण करना तो उचित भी है, ( अपि शब्द से लक्ष्मी के साथ रमण में भी स्वारस्य नहीं है ) मुख्य रस की प्राप्ति तो लक्ष्मी को भी नहीं होती है, किन्तु यथाकथंचित् लक्ष्मी के साथ रमण सम्भव होता है, किन्तु केवल गोपियों के साथ भगवान् का लक्ष्मी के समक्ष रमण करना संभव नहीं हो सकता है ।

यदि कहो कि लक्ष्मी की तरह गोपियां भी धर्मरूप हैं, इसलिये तादात्म्य होने से दोष नहीं है । इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि इस रस की प्राप्ति के लिये भगवान् ने लक्ष्मी को गोपियों में प्रविष्ट होने की आज्ञा दी, किन्तु भगवान् तथा लक्ष्मी, दोनों का ही दंपति भाव जागृत है, इसलिये यहां भगवान् की आज्ञा संभावित नहीं होती, कारण कि प्रिय भगवान् को भी पूर्वभाव से विलक्षण भाव की उत्पत्ति होने से रसाभास प्रसङ्ग प्राप्त हो जायेगा, इससे पूर्व रस को भंग करने वाली भगवान् की आज्ञा है । जिस प्रकार गाय अपने रान के स्पर्श को सहन न करती छींके ऊपर धरे भी दूध को पानी में गेर देती है, उसी प्रकार भगवान् की आज्ञा पूर्व रसका नाश करने वाली है, इसलिये गोपियों में भगवान् की आज्ञा से रमा का प्रविष्ट होना अनुचित है, कारण कि ब्रह्मभाव होने पर ही ब्रह्मानन्द का आविर्भाव होता है ।

रमा ब्रह्मानन्द रूप है, अर्थात् स्वरूपात्मक हैं, ब्रह्मानन्द मध्यपातिनी गोपियां भी ब्रह्मानन्द रूप स्वरूपात्मक हैं, इसलिये यहां आत्मरमण ही है, इसी से आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' कहेंगे । इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि गोपियों में ब्रह्मभाव नहीं है, इसलिये ब्रह्मानन्द रूप स्वरूपात्मक गोपियां नहीं हैं ।

तो फिर भगवान की आज्ञा से लक्ष्मी का गोपियों में आवेश है, इसलिये भगवान ने रमण किया है । इस प्रकार समाधान करने पर कहते हैं कि गोपियों में लक्ष्मी का आवेश भी उचित नहीं है, कारण कि आवेश तो साधन करने वाले पुरुषों में ब्रह्मभाव से प्राप्त होता है, गोपियों में ब्रह्मभाव का साधन न होने से आवेश भी घट नहीं सकता है, अतः भगवान का रमण लक्ष्मी में तथा गोपियोंमें भिन्न भिन्न प्रकार का है, इसलिये गोपियोंके साथ आत्माराम का रमण अनुचित है ।

इस शंका के उत्तर में श्री शुकदेव जी कहते हैं 'यथार्भकः' ।

जिस प्रकार बालक दर्पण तथा जल आदि को सामने रखकर वहां अपने स्वरूप को देखता रमण करता है, उसी प्रकार भगवान भी अपनी सामर्थ्यशक्ति अथवा अपने स्वरूप को गोपियों में स्थापन करके ब्रह्म तथा ब्रह्मानन्द का आविर्भाव करके रमण करता है । अतः आत्मारामत्व भङ्ग नहीं होता है ।

---

यदि कहो कि यह भी अनुचित है, गोपियां तो ब्रह्मानन्द से भी अधिक भगवद्रस भाव वाली हैं, इसलिये लक्ष्मी का सम्बन्ध यहां कह नहीं सकते, कारण कि रमा के निवेश से गोपियों को अप्राकृत सूचन किया है, इससे गोपियों की स्वतन्त्रता की हानि होने से रस न्यून ही प्राप्त होगा, तो फिर गोपियों को भगवान ने फल क्या सम्पादन किया ।

इस प्रकार प्रश्न करने पर गोपियों में रसविच्छेद का अभाव दृष्टान्त से कहते हैं, कि 'यथार्भकः' जिस प्रकार भगवान ने बाललीला की, उसी प्रकार यह भी लीला की है ।

श्री विट्ठल नाथ जी स्वतन्त्र लेख में कहते हैं कि अथवा भगवान का गोपियों के साथ तथा लक्ष्मी जी के साथ रमण प्रकार कदाचित् समान हो, तो भी जिस रस का अनुभव भगवान को गोपियों में हुआ है, उस रस का अनुभव लक्ष्मी जी में नहीं हुआ है, किन्तु वह तो गोपियों में ही हुआ है, इस बात का ज्ञापन मूल में 'रमेशो व्रजसुन्दरीभिः' इन दो पदों से करते हैं ।

रमा का ईश-स्वामी, भर्ता भगवान हैं, और गोपियां तो व्रजसम्बन्धिनी-अन्य सम्बन्ध वाली सुन्दरी हैं, भगवान की विवाहिता नहीं हैं, इसलिये जिस समय भगवान रमा के साथ रमण करते हैं, उस समय गोपियों का सा रस का अनुभव लक्ष्मी जी तथा भगवान दोनों को ही सम्भव नहीं होता है, कारण कि रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, यह भाव है ।

यदि कहो कि ईश्वर में इस प्रकार का रमण उचित नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि "थथार्भकः" ।

"संमुष्णन् नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गमं दृष्ट्वा,
मुग्धतया कुमारमपरं संचिन्तयन् शंकया ।
मन्मित्रं हि भवान् मयात्र भवतो भागः स्वयं कल्पितो,
मा मां सूचय सूचयेत्यनुनयन् बालो हरिः पातु वः ॥"

"भगवान नवनीत चुराकर भीतर भवन में चल गये, वहां मणियों के स्तंभ में अपना प्रतिबिम्ब देखकर मुग्धभाव से स्तम्भ में दूसरे कुमार की शंका से आप विचार करते कहते हैं कि, आप मेरे मित्र हो, इसलिये मैंने नवनीत में से पहिले आप का भाग स्वयं रख दिया है, मुझ को निन्दित मत करो" इत्यादि कृष्णकरुणामृत के वाक्य में भगवान् की मुग्धलीला का वर्णन अन्यथा निरूपण किया है, कारण कि भगवान पूर्ण ज्ञानवान् हैं, फिर भी इस प्रकार की मुग्ध लीला करते हैं, अतः उस रस का स्वरूप ही इस प्रकार का है, उसी प्रकार यहां भी भगवान मुग्धलीला करते हैं ।

"रसो वै सः" इस श्रुति के अनुसार जो कुछ भगवान करते हैं, वह सब रसमध्यपाती है, इससे स्वरूपात्मक है, अतः भगवान ने रमण किया, इस प्रकार कहा जाता है, यहां कोई आपत्ति नहीं है । कारण कि इस प्रकार की शंका ही यहां उत्पन्न नहीं होती है ।

यदि कहो कि इस पक्ष में आत्मारामत्व का समर्थन कैसे हुआ ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि उक्त कथन से इस प्रकार ज्ञापित होता है कि जिस प्रकार भगवान्, अथवा भगवान का भाव है, उसी प्रकार गोपियां और गोपियों का भाव भी है ।

पहिले कही "रसो वै सः" इस श्रुति से रसात्मकत्व तथा रसवान् दोनों के स्वरूप में भेद नहीं है ।

इस प्रकार से गोपियों के साथ भी भेद नहीं है, कारण कि गोपियां भी रस स्वरूप के अन्तःपाती हैं, अतः कोई अयोग्य नहीं है ।

तेजस्थल में किरणों के प्रवेश से ही प्रतिबिम्ब होता है, इसलिये यहां भी दृष्टान्त से ही पूर्वोक्त रीति से आत्मारामत्व का समर्थन है ।

प्रथम में रमा का स्थापन, और यहां अपना स्थापन, यह विशेष है। कारण कि प्रतिविम्ब का इस प्रकार का स्वभाव है।

यहां रमण बहुत सी गोपियों का एक समय होता है, भगवान तथा गोपी दोनों का भी होता है। नृत्य प्रत्येक गोपी का होता है, और रमण समुदाय से होता है, आगे तो रमण भी प्रत्येक का होगा, इसका शुकदेवजी वर्णन करेंगे।

श्री विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि यहां बालक के दृष्टान्त से जो समाधान किया है, उसका यह आशय है कि प्रथम जो कहा है कि गोपियों में रमा के आवेश से रसाभास प्रसङ्ग, तथा पूर्व-रस का विच्छेद-नाश हो जायेगा। इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि दर्पण आदि में अन्य वस्तु घर आदि का प्रतिविम्ब भी होता है, किन्तु बालक जिस प्रकार अपना प्रतिविम्ब ही देखता हुआ, अपने प्रतिबिम्ब में ही रमण करता है, अपने प्रतिविम्ब से अन्य में रमता नहीं है, अत एव मूल में 'स्व' पद कहा है, उसी प्रकार गोपियों में रमा का समागम होने पर भी भगवान रसरूप हैं, इसलिये जिसमें रसात्मक भाव देखते हैं, उसमें ही-अर्थात् गोपियों में ही, गोपियों के अनुरूप भाव से चेष्टावान् ही रमण करते हैं। फिर उस समय भगवान को रमा-लक्ष्मी की स्फूर्ति नहीं होती हैं, जिससे लक्ष्मी में भार्यात्व के ज्ञान से पूर्व रस का विच्छेद हो जाये। कारण कि उस रस का इस प्रकार का स्वभाव है, इसलिये प्रभु रमण करते हैं, बालक का स्वभाव खेलने का होता है, भगवान भी यहां बालक की सी क्रीडा करते हैं।

यदि कहो कि उक्त व्याख्यान करने से रमेशपद बोधित लक्ष्मी का आवेश व्यर्थ हो जायेगा?

इस शंका को दूर करने के लिये कहते हैं कि लक्ष्मीजी का तो भगवान में पति-भाव है, इसलिये लक्ष्मी को मुख्य रस की प्राप्ति नहीं है। इसीसे उद्धव जी कहते हैं 'नायं श्रियोङ्ग' भा० १०।४४।६१ भगवान का यह प्रसाद लक्ष्मीजी को भी प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु उक्त पतिभाव विशिष्ट प्रिय भगवान के अङ्ग सम्बन्धिनी गोपियों के अङ्ग सम्बन्ध संग से ही, जिसका लक्ष्मीजी ने कभी पहिले अनुभव नहीं किया, उस प्रकार का कोई अवर्णनीय आनन्द-विशेष लक्ष्मीजी को प्राप्त हुआ, जिससे लक्ष्मी को सब विस्मृत हो गई और गोपियों को भी सब विस्मृत हो गई।

यद्यपि यह आपका कहना ठीक है, तथापि गोपियों में लक्ष्मी का आवेश होने पर रमात्व का अनुसन्धान होने से पूर्व रस का विच्छेद हो गया होगा।

इसके उत्तर में कहते हैं ( एतेन ) सर्व विस्मृति कथन से ही लक्ष्मी के प्रवेश में गोपियों के भाव की विलक्षणता से पूर्वरस का विच्छेद निरस्त कर दिया, अर्थात् गोपियों के पूर्वरस का विच्छेद-नाश नहीं हुआ।

दर्पण जल आदि जो प्रतिबिम्ब के आश्रय हैं, उनको प्रतिबिम्ब का ज्ञान होना लोक में कहीं देखने में नहीं आया है, कारण कि ज्ञान आत्मा का धर्म है, इसलिये प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण जल आदि में ज्ञान का होना सम्भव नहीं होता है।

यदि कहो कि गोपियों को लक्ष्मी जी के प्रवेश का ज्ञान नहीं है, तो भी प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, प्रभु को तो लक्ष्मीप्रवेश का ज्ञान है, इसलिये ज्ञान का अभाव कहना अनुचित है। तथा ताम्बूल ग्रहण आदि से गोपी को भी ज्ञान है।

इस प्रकार की शंका में दोनों को ज्ञान होने पर भी कोई क्षति नहीं है, इस बात को कहते हैं ( अपिच ) स्वामिनियों को तथा भगवान को लक्ष्मीप्रवेश का ज्ञान होने पर भी कोई क्षति नहीं है, कारण कि रसाभास तथा भावाभास से मुख्य रस का पोषण होता है।

प्रकृत विषय में तो लक्ष्मी जीने गोपियों में प्रवेश किया है, इसलिये गोपियों को एक क्षण-मात्र में लक्ष्मीप्रवेश का भाव, अर्थात् हममें लक्ष्मी प्रविष्ट हुई है, इस प्रकारका भाव होता है। आगे दूसरे क्षण में पूर्व क्षण का भाव उत्पन्न होने वाले रसविशेष का अनुभव करने वाला होता है, इसलिये इष्ट ही है।

जिस प्रकार कोई अद्भुत गाय अपने ऐन के बोझ से निकल रहीं दूध की धारा से छींके पर धरे हुए पात्रों को भी अत्यन्त भर देती है, उसी प्रकार भगवान् ने गोपियों में प्रवेश होने की आज्ञा लक्ष्मी जी को दी है, वह सब प्रकार से उचित ही है।

यदि कहो कि आपने कहा कि भगवान् ने लक्ष्मी जी को आज्ञा दी वह योग्य है, इस प्रकार आपका कहना ठीक है, तो भी रमा ब्रह्मानन्द रूप हैं, यह प्रथम कह चुके हो, और सर्वत्र यह बात प्रसिद्ध भी है, इसलिये लक्ष्मी जी को ब्रह्मानन्द रूपत्व विवाद रहित है, किन्तु यहां धर्मा-त्मक रहित गोपियों में ब्रह्मानन्द रूपत्व का अभाव स्पष्ट है, इसलिये ब्रह्मानन्द का अभाव रूप जो गोपियों में न्यूनता है, उसका अनुसन्धान करके ही श्रीमदाचार्यों ने लक्ष्मी आवेश के पूर्व पक्ष में ब्रह्मभाव का अभाव हेतु कहा है, इसलिये गोपियों में ब्रह्मानन्द का अभाव रूप विरोध तो दूर नहीं होता है, फिर इस प्रकार का तात्पर्य कैसा है।

इस प्रकार की शंका में शंका का अनुवाद करके विरोध दूर करते हैं, ( यच्च ) जो प्रथम कहा है कि गोपियों में ब्रह्मभाव नहीं है, इसलिये ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी जी का गोपियों में सम्बन्ध होना बन नहीं सकता है।

इस शंका का उत्तर कहते हैं कि लक्ष्मी जी में ब्रह्मभावात्मक साधन से प्रकट हुआ ब्रह्मानन्द नहीं है, कारण कि ब्रह्मानन्द तो ब्रह्मभाव रूप साधन करने वाले पुरुषोंमें भी प्रकट होता है, लक्ष्मी जी का भाव तो एक पुरुषोत्तम में ही है, इसलिये पुरुषोत्तम रसात्मक है, इससे आनन्द रस जिस प्रकार का यहां है, उस प्रकार का निरूपण करना चाहिये, स्निग्ध दंपतीभाव भी एक आनन्द रस का प्रकार है, इसलिये लक्ष्मी जी स्निग्ध दंपतीभाव रूप आनन्द को प्रकट करने वाली है, 'अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी' पत्नी आत्मा का अर्ध भाग है, इस श्रुति के अनुसार सिद्ध होता है कि लक्ष्मी जी स्वयं भगवान् का आधा भाग होने के कारण आनन्द रूप है, ब्रह्म की-पुरुषोत्तम की जो शक्ति है, वह रमा ब्रह्मानन्द शब्द से कही जाती है। इसलिये गोपियों मे

इस प्रकार की लक्ष्मी को गोपियों के साथ सम्बन्ध की योग्यता है, इस पक्ष का आश्रय करके लक्ष्मी का प्रवेश होना घट सकता है।

अब गोपियों को तथा भगवान् को लक्ष्मी जी का ज्ञान नहीं है। इस पक्ष का आश्रय करके सुबो-'बालको हि' यहां से लेकर 'स्थापयित्वा', यहां तक ग्रन्थ-सुबोधिनी का व्याख्यान किया।

आगे गोपियां तथा भगवान् को लक्ष्मी जी का ज्ञान है, इस पक्ष का आश्रय करके सुबो-धिनी में 'ब्रह्म' इत्यादि पदों से कहते हैं।

यह ब्रह्म पद का अर्थ इस प्रकार है कि उद्दीपक तथा अनुभव कराने वाली वाणी एवं कृति में प्रकट किया, और व्यभिचारी भाव से पुष्ट किया, मुख्यरस विकार रहित नित्य है, इस बात को ज्ञापन करने के लिये सुबोधिनी में ब्रह्म पद का प्रयोग किया है।

ब्रह्मानन्द पद का अर्थ, प्रथम कथा मुख्य रस का पोषण करनेवाला लक्ष्मी जी के आवेश से उत्पन्न भाव विशेष का नाम ब्रह्मानन्द है।

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि गोपियों में लक्ष्मी से न्यूनता कहनेवाले आपने रमा का स्वरूप किस प्रकार जाना है। क्या 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' इत्यादि से प्रतिपादित ब्रह्म-भावरूप से साधन करने योग्य फलात्मक ब्रह्मानन्द रूप है।

अथवा पुरुषोत्तम से अभिन्न आनन्द रूप है। उसमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, कारण कि टिप्पणी में 'नहि' इत्यादि से दूषित किया है, कि लक्ष्मी जी ब्रह्मभावात्मक साधन से प्रकट हुआ, ब्रह्मानन्द नहीं है, कारण कि ब्रह्मानंद तो ब्रह्मभाव रूप साधन करने वाले पुरुषों में भी प्रकट होता है।

द्वितीय पक्ष पुरुषोत्तम से अभिन्न आनन्दरूप है, इसको ही अङ्गीकार करना चाहिये। इसमें भी प्रथम पुरुषोत्तम के स्वरूप का विचार करना चाहिये, पुरुषोत्तम का स्वरूप रसरूप है, यह प्रथम निर्णय किया है।

इसलिये लक्ष्मी जी का पुरुषोत्तम से अभेद होने पर भी दांपत्य-स्त्रीपुरुष भेद से प्रसिद्ध है, इसलिये शक्ति, शक्तिमान् भाव सिद्ध होता है, पुनः यह अभेद तादात्म्य में पर्यवसान को प्राप्त होता हुआ रमा को पुरुषोत्तम के आनन्द का एकदेश व्यवस्थापित करता है।

इस प्रकार का लक्ष्मी का स्वरूप शास्त्रविचार से सिद्ध है, इसलिये ब्रह्मानन्द भाव हेतु से जो गोपियों में लक्ष्मी जी के आवेश के अभाव की शंका की है, उसमें श्रीमदाचार्यों का अभिप्राय नहीं है, किन्तु ब्रह्मानन्द पद से यहां अन्य अभिप्राय कहा है, अतः उस आशय को लेकर यहां शंका की है।

और तुम्हारी रीति के अनुसार श्री आचार्यों की उक्ति में विरोध नहीं है, इसी आशय से टिप्पणी में ( किन्तु ) पुरुषोत्तम रसात्मक हैं इत्यादि से पूर्व व्याख्यान में कहा है, तथा लक्ष्मी का स्वरूप जिस प्रकार का निर्धार करके सिद्ध हुआ है, उसका वर्णन 'एतादृश्या' 'इस प्रकार की लक्ष्मी के' यहां से लेकर 'उच्यते' पर्यन्त पहिले व्याख्यान में किया है।

यहां प्रथम पक्ष में लक्ष्मी का मूर्तरूप से स्थापन नहीं है, किन्तु अमूर्त रूप अपनी सामर्थ्य आत्मा, अथवा रूपात्मा से है, इससे लक्ष्मी के अज्ञानपक्ष का संग्रह है।

द्वितीय ज्ञानपक्ष में मुख्य रस और मुख्य रस का पोषण करने वाला स्वरूप प्रकट करके भगवान् ने रमण किया है, इस प्रकार अर्थ है। इसलिये ब्रह्मभाव होने पर ब्रह्मानन्द का आविर्भाव होता है, इस प्रकार जो पूर्व पक्ष किया, उसमें कहते हैं कि रमा में गोपियों का सा रसभाव नहीं है, इसलिये लक्ष्मी का आवेश गोपियों में कहना अनुचित है, अर्थ अभिप्रेत है। अतः विरोध भी नहीं है। इस प्रकार यहां पूर्वोक्त ही आशय कहा है।

इस प्रकार कहने में 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः' वह किस में प्रतिष्ठित है, इस प्रकार प्रश्न करने पर 'स्वे महिम्नि' अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' अन्य अन्य में प्रतिष्ठित है, इसकी तरह आगे उत्तर का विचार करने पर अपनी महिमात्मक शक्ति रूपता गोपियों में भी निर्बाध सिद्ध है, इसलिये शक्ति शक्तिमद्भाव लक्ष्मी की तरह गोपियों में भी तुल्य होने के कारण वही समाधान यहां भी समझना चाहिये।

अतः रसरूपत्व आदि तथा आत्मारामत्व आदि में इस प्रकार विरोध नहीं है, इस प्रकार प्रथम दृष्टान्त के व्याख्यान का तात्पर्य स्फुट कह कर अब द्वितीय व्याख्यान स्फुट करने के लिये उसकी अवतारिका से सूचित अरुचि को स्फुट करते श्री गो० विट्ठलनाथजी कहते हैं कि 'ननु स्व'।

यदि कहो कि गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके ही भगवान् रमण करते हैं, तो गोपियां उत्तम नायिका नहीं हुईं, अतः भगवान् को स्वयं उत्तम नायिका नहीं मिलने पर गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि योजन करने से उत्तम रस का अनुभव नहीं होगा।

इस प्रकार अरुचि से श्रीमहाप्रभुजी ने पक्षान्तर कहा है कि 'ननु एतदप्यनुचितम्' यह भी अनुचित है।

---

भगवान् गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके रमण करे तो भगवान् को क्लिष्ट कर्मत्व प्रसङ्ग हो जायेगा।

कारण कि भगवान् तो अक्लिष्टकर्मा हैं, अर्थात् जिस प्रकार कार्य करने में क्लेश नहीं हो, उस प्रकार कार्य करते हैं, इसलिये भगवान् ने गोपियों में अपना सामर्थ्य आदि स्थापन करके रमण किया, इस प्रकार का व्याख्यान करना अनुचित है।

यदि कहो कि आवश्यक कार्य में क्लेश करने में भी दोष नहीं है। जिस प्रकार 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' महद्भय में वज्र धारण।

इस शंका के उत्तर में लक्ष्मी का विधर्म बोध कराने के लिये कहते हैं, 'पक्षान्तरे' पक्षान्तर में दृष्टान्त के आभास को कहते हैं, 'किमनेनेति चेद्' यदि गोपियों के लिये ही यह लीला क्रियमाण है तो फिर लक्ष्मी के आवेश से रमण करने में स्वामिनियों को फल क्या सम्पादित किया। यहां पर आभास का अर्थ कहने से ही लक्ष्मी जी से गोपियों का धर्म पृथक् कहा है, अतः गोपियों के धर्म का नियमन करने के लिये आवश्यक कार्य होने से इसमें क्लेश नहीं है।

पूर्व कही अनावश्यकत्व का बोध करने वाली शंका 'यथार्भकः' इस दृष्टान्त से दूर की जाती है।

जिस प्रकार गोपियों का धर्म नियमन के लिये क्लेश आवश्यक है, उसी प्रकार लक्ष्मी जी को भी भक्त होने के कारण उसकी अभिलाषा पूर्ति आवश्यक है, अतः भगवान् ने अपना सामर्थ्य आदि स्थापन कर रमण में क्लेश किया है।

यदि कहो कि क्लेश मुख्य रस का पोषक है, यह बात प्रथम कह आये हैं, इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त का अर्थ श्री गो० विट्ठलनाथ जी कहते हैं कि 'तथा हि'।

जिस समय यशोदा रोहिणी आदि के सामने संकोच से भगवान गोपियों का आलिङ्गन आदि नहीं करते, उस समय गोपियों को अत्यन्त आर्ति होती है, उस आर्ति को देखकर, आर्ति दूर करने के लिये बालभाव के व्याज-बहाने से गोपियों के वक्षस्थल पर विविध बिहारों को करते हैं, उस समय गोपियों की रस रीति से ही रसपूर्ति, तथा आर्ति-दुःख दूर होता है, और अन्य यशोदा प्रभृति स्त्रियों को तथा नन्द प्रभृति पुरुषों को तो विचित्र बाल चेष्टाभाव से बाललीला रस का अनुभव ही होता है।

इसी प्रकार यहां भी गोपियों को निजरस भाव के अनुरूप ही रस का अनुभव होता है, तथा लक्ष्मीजी को गोपियों के प्रसङ्ग से अपने भाव के अनुरूप ही रस का अनुभव होता है।

इस प्रकार का व्याख्यान करके गो० श्री विट्ठलनाथ जी ने गोपियों की अयोग्यता का परिहार किया है।

अब आगे मूल ग्रन्थ को स्फुट करते हैं, "तथाच" यहां पर दो दृष्टान्त जानने चाहिये, "यथार्भकः" जिस प्रकार बालक खेलता है। भगवान ने बालभाव से रमण किया, यह प्रथम दृष्टान्त है।

दूसरा दृष्टान्त "यथार्भकः" जिस प्रकार लौकिक बालक रमण करता है-खेलता है, उसी प्रकार भगवान ने लीला की है।

मूल में गोपियों का सान्निध्य-समीप होने के कारण बालक ही इस प्रकार का है, इसलिये "यथा" शब्द कहा है।

यहां पर अर्भक शब्द की आवृत्ति की है, इससे दूसरा लौकिक दृष्टान्त कहा है, दूसरा दृष्टान्त लौकिक प्रकार का है, इसका वर्णन यहां आचार्यों ने नहीं किया है।

इस प्रकार कही गयी रीति के अनुसार गोपियों में रमा का आवेश स्वीकार करने पर, रमाप्रवेश से ही गोपियों में रमणयोग्यता है, इस प्रकार कोई माने तो, इस अरुचि से पक्षान्तर श्री विट्ठलनाथ जी ने कहा है "यद्वा" इसका व्याख्यान पहिले मूल सुबोधिनी के याख्यान के साथ में किया है, इसलिये यहां नहीं किया है ॥ १७ ॥

( सुबो० ) एवं सर्वभावेन भगवद्धर्माविशे तासां देहादिविस्मरणपूर्वकं महारसाभिनिवेशमाह तदङ्गेति ।

इस प्रकार सर्वभाव से गोपियों में भगवान का धर्म-स्वरूपानन्द एवं ऐश्वर्य आदि धर्मों का प्रवेश होने पर गोपियां अपने देह आदि को भूलकर महारस में प्रविष्ट हो गईं, महारस में प्रविष्ट व्यापार से उत्पन्न जो फल गोपियों को मिला, उसका वर्णन आगे के श्लोक में श्रीशुकदेवजी कहते हैं ।

**तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिकां वा ।**
**नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरूद्वह ॥१८॥**

पदपदार्थ—( हे कुरूद्वह ) हे कौरवों में श्रेष्ठ "तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः" भगवान के श्री अङ्ग के सङ्ग से जो प्रकृष्टमद-देहादि को भुलाने वाला भाव, उससे व्याकुल इन्द्रियां जिनकी "विस्रस्तमालाभरणाः" गिर गयीं मालाओं और आभरण जिनके इस प्रकार की "व्रजस्त्रियः" गोपियां ( केशान् ) केशोंको ( दुकूलं ) वस्त्र को ( वा ) और ( कुचपट्टिकां ) चोली-अंगिया को ( अञ्जः ) समग्रता से ( प्रतिव्योढुम् ) सम्मुखता से विशेष करके धारण करने के लिये ( अलं ) समर्थ ( न जाताः ) नहीं हुईं ॥ १८ ॥

भाषार्थ—हे कौरवों में श्रेष्ठ ! भगवान के श्री अङ्गसङ्ग से देहादि को भुलाने वाला जो प्रकृष्टमद-भाव उत्पन्न हुआ, उस भाव से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, और मालाएं, तथा आभरण गिर गये, इस प्रकार की व्रजस्त्रियां अपने केश, और पहिने हुए वस्त्र चोली आदि को स्वयं अपने स्थान पर धारण नहीं कर सकीं, सम्हाल नहीं सकीं ॥ १८ ॥

( सुबो० ) तस्य भगवतः अङ्गसङ्गेन यः प्रकृष्टो मदः देहादिविस्मारको भाव उत्पन्नः, तेन आकुलानीन्द्रियाणि यासाम् । सर्वा इतिकर्तव्यतामूढा जाताः । ततः केशपाशं परिहितदुकूलं कुचपट्टिकां वा स्वयमञ्जसा सामस्त्येन प्रतिसम्मुखतया विशेषेण व्योढुमलं न जाताः । पुनरल्पेनैव तथाविधा जाता इत्यत्र हेतुमाह व्रजस्त्रिय इति । श्रमोऽपि जात इत्याह विस्रस्तमालाभरणा इति । आकुलेन्द्रियत्वान्न विचारो लौकिकः। गोपिकात्वान्न पारमार्थिकः । श्रमान्न दैहिकः। अतः आद्यन्तमध्येषु तासु युक्ता भगवतैव धृताः, न ताभिरित्यर्थः । यद्यप्यन्यप्रतीत्याध्रियमाणा इव तथापि न स्वतो धारणम् । कुरूद्वहेति सम्बोधनमभ्रमाय विश्वासार्थं च ॥ १८ ॥

भगवान के अङ्गसङ्ग से जो प्रकृष्ट मद-देह आदि का भुलाने वाला भाव उत्पन्न हुआ,

उस भाव से व्याकुल इन्द्रियां जिनकी, इस प्रकार की सभी गोपियां किंकर्तव्य, क्या करना चाहिये इस प्रकार के विचार में विमूढ हो गईं, अतः अपना केशपाश-वेणी को, पहिने वस्त्र को और चोली को स्वयं समग्रता से-अच्छे प्रकार से यथास्थान "प्रतिव्योढुम्" प्रति-सम्मुखता से विशेष करके वोढुं—धारण करने के लिये समर्थ नहीं हुईं ।

मूल श्लोक में जो "व्योढुम्" पद कहा है, वह वास्तव में 'विवोढुम्' है. इसमें वकार का छान्दस प्रकार से लोप करके यण् प्रत्यय करने पर "व्योढुम्" सिद्ध हुआ है ।

फिर थोड़ा सा विहार करने से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, इसमें हेतु श्रीशुकदेव जी कहते हैं ( व्रजस्त्रियः ) ।

'गायन्त्यस्तं विजह्रिरे' प्रथम १५ वे श्लोक में नृत्यादि का विराम कथन से स्पष्ट मालुम होता है कि नृत्य स्वभाव से प्राप्त गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गई थीं, और फिर 'कर्णोत्पलालक' इस १६ वे श्लोक में गोपियों में भाव जागृत हुआ, 'एवं परिष्वङ्ग' इस १७ वे श्लोक में गोपियों ने विहार किया, इस प्रकार कहा ।

अब इस अठारवे श्लोक में थोड़े से ही विहार से गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल हो गईं, इसका कारण यह है कि गोपियाँ व्रज की स्त्रियां हैं । व्रज की स्त्रियों में विशुद्ध भाव होता है ।

गोपियों को श्रम भी हुआ है, इसका वर्णन शुकदेवजी करते हैं कि 'विस्रस्तमालाभरणाः' गोपियों की माला और आभरण गिर गये थे, और इन्द्रियां व्याकुल है गई थीं, इसलिये लौकिक विचार नहीं रहा, करण कि गोपियां रसोन्मुख थीं । वस्त्र आदि का विचार लौकिक है, शरीर में वस्त्र नहीं हो तो, लोक में लज्जा लगती है, किन्तु गोपियों की इन्द्रियां व्याकुल होने के कारण अपने पहिनने का वस्त्र गिर जाने का भी विचार नही रहा । पहिनने का वस्त्र का विचार करना मुख्य है, अर्थात् प्रथम है ।

गोपियां प्रमेय मार्गीय हैं, इसलिये इनके भीतर पारमार्थिक विचार भी नहीं रहा, कारण कि केशों के विथुर जाने से परमार्थ में दोष लगता है, किन्तु गोपियां प्रमाणमार्गीय नहीं हैं, प्रमेय मार्ग वाली हैं, इसलिये इनको केश विथुरने का भी विचार नहीं रहा ।

दैहिक विचार मध्य-दूसरा है, चोली-अंगिया आदि न होने से कुचोंका अन्यथाभाव हो जाता है, किन्तु गोपियां श्रान्त हो गईं, इसलिये अपनी अव्यवस्थित चोलियों की व्यवस्था करने का विचार भी नहीं रहा ।

अतः आदि मध्य और अन्त में, अर्थात् पहरने का वस्त्र, केश और चोलियां, इन तीन स्थानों में गोपियों के वस्त्र, केश और चोलियां, जो वस्तुयें थीं, वे सब भगवान् ने ही धरी थीं, कारण कि गोपियों को तो प्रकृष्ट मद से देहादि का विस्मरण हो गया था, इसलिये भगवान् ने हीं सम्हाली, यह अर्थ है ।

यद्यपि दूसरों के देखनेमें धारण की हुई सी देखती हैं, तथापि गोपियों ने अपने आप धारण नहीं कीं भगवान् ने ही धरी थी ।

'कुरूद्वह' यह सम्बोधन श्री शुकदेवजी ने राजा परीक्षित को दिया है वह भ्रम न होने के लिये, तथा विश्वास दिलाने के लिये किया है ॥१८॥

( सुबो० ) एवं समुदायलीलां निरूप्य तस्याः परिज्ञानं केषामपि न जातमिति वक्तुं देवस्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयमाह कृष्णेति ।

इस प्रकार समुदायलीला वर्णन करके, इस समुदायलीला का परिज्ञान किसी को भी नहीं हुआ, इस बात को कहने के लिये आगे के श्लोक में देवस्त्रियों को और चन्द्र को विस्मय हो गया, इसको शुकदेव जी कहते हैं, गंधर्व आदि को तो इस लीला का दर्शन ही नहीं हुआ, स्त्रियों को और चन्द्र को विस्मय हो गया, अत· समुदायलीला का किसी को ज्ञान नहीं हुआ ।

**कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः ।**
**कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १९ ॥**

**पदपदार्थ**—( कृष्णविक्रीडितं ) श्री कृष्ण की विशेष क्रीडा को ( वीक्ष्य ) देखकर ( खेचरस्त्रियः ) आकाश में डोलने वाले देवों की स्त्रियां ( कामार्दिताः ) काम से पीडित होती ( मुमुहुः ) मोहित हो गईं ( च ) और (सगणः) नक्षत्रसहित ( शशाङ्कः ) कलङ्की चन्द्रमा ( विस्मितः ) विस्मित ( अभवत् ) हो गया ॥ १९ ॥

**भाषार्थ**—श्रीकृष्ण की विशेषक्रीडा देखकर आकाश में डोलने वाले देवों की स्त्रियां काम से पीडित-मोहित हो गईं, और नक्षत्र सहित चन्द्रमा विस्मित हो गया ॥ १९ ॥

( सुबो० ) नहि कस्याश्चित् पतिः परमानन्दो भवति । नहि निरानन्देनानन्दो दातुं शक्यते । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः । एवकारेणेत्तरनिषेधश्च । तत्रापि विशेषेण क्रीडा । नहि जीवो विशेषक्रीडां जानाति । खेचराणां स्त्रिय इति तासां सर्वदर्शनार्थं भगवद्दत्तो वरो निरूपितः । स्त्रीणां च दर्शनं न दोषाय । तासां मोह एवोत्पन्नः । न तु परिज्ञानं रसो वा । लौकिकोऽपि चन्द्रो दृष्टवान् । सोमात्मकत्वात् देहस्य । 'सोमः प्रथम' इति श्रुतेश्च । साधारण्यश्च स्त्रियः । तथापि तस्य दर्शनं तस्यैव हितकारि न भवतीति निरूपयितुमाह शशाङ्क इति । न स हि कलङ्की । आनन्दमयोऽपि । सगणो नक्षत्रसहितः । तेनोद्दीपनेऽपि तस्यान्यासु चित्तसम्भवः । चकरात् सोऽपि मुमुहे । यथा पुनरेताः मोहनानन्तरं पुनः पुनर्दर्शने उद्बुद्धकामा जाताः । गत्वास्माभिरपि कामरूपतया क्रीडा कर्तव्येति कामार्दिता जाताः । तथा चन्द्रोऽपि भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान् । अतः कामार्दितो जातः । अनेनाग्रे निसर्गात् सुखमिति पक्षे उपपत्तिरुक्ता । अस्यैव चन्द्रस्य अंशास्ततो निवर्तिष्यन्त इति । अन्यथा 'सहस्र दर्शनान्मुक्ति' रित्येतत्सूत्रं विरुध्येत । सहस्रवणाभावात् । किञ्च, सगणः स्वस्त्रीसहितोऽपि विस्मितो जातः । विस्मयरस एवोत्पन्नः, नान्यो रस इति ॥ १९ ॥

किसी का पति परमानन्द कृष्ण नहीं होता है, और जो निरानन्द हो, आनन्द रहित हो, वह आनन्द का दान कर नहीं सकता है ।

सच्चिदानन्द के सत्ता, ज्ञान और आनन्द धर्म है, इसलिये आनन्द को आनन्द स्वरूप होने से यहा आनन्द पद ही कहा है, अतः निरानन्द का अर्थ आनन्दरहित है, आनन्दरहित आनन्द का दान कर नहीं सकता है, कारण कि श्रुति कहती है 'एष ह्येवानन्दयाति' एष ह्येव, आनन्द ही

परमात्मा आनन्द देता है, एवकार से इतर का निषेध किया है, अर्थात् परमात्मा के बिना अन्य कोई आनन्द दे नहीं सकता है ।

यहाँ पर विशेष क्रीडा है, जीव विशेष क्रीडा नहीं जानता है, आकाश में डोलनेवाले देवों की स्त्रियां, मूल में इस प्रकार के कहने से सब दर्शन करने के लिये देवों की स्त्रियों को भगवान् ने वरदान दिया है, इस प्रकार निरूपण किया है, स्त्रियों को भगवल्लीला का दर्शन करने में दोष नहीं है, देवस्त्रियों को भगवान् की लीला देखकर मोह ही उत्पन्न हो गया है, किन्तु भगवान् की समुदाय लीला का परिज्ञान नहीं हुआ, और न रस ही प्राप्त हुआ ।

अब 'वीक्षा' इस पद से गौण क्रिया का विवरण करते हैं कि लौकिक भी चंद्र लीला का दर्शन करता है, मूल में 'शशाङ्क' पद से लौकिक चन्द्र ही प्राप्त होता है, अतः लौकिक चन्द्र ने दर्शन किया, यह कहा है ।

यदि कहो कि रासक्रीडा में समागत रमणियों के दर्शन से चन्द्र को दोष उत्पन्न होता है । फिर कैसे चंद्र ने दर्शन किया ?

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभुजी चंद्र को दोष उत्पन्न न होने का कारण कहते हैं 'सोमात्मकत्वात् देहस्य' इसका देह सोमरूप है ।

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' श्रुति कहती है कि यह जगत् अग्नि तथा चंद्ररूप है, इस प्रकार श्रुतिसंमत चंद्र तथा गोपियों के देह में भेद नहीं है, एक ही है, अतः चन्द्र को इस लीला के देखने से दोष उत्पन्न नहीं होता है ।

जिस प्रकार आलौकिक चन्द्र भगवद्भावात्मक है, उसी प्रकार यह लौकिक चन्द्र स्वामिनी भावात्मक है ।

स्वामिनियों की आत्मा में नियत-सदैव रहने वाले सोम का देह सोमात्मक है, इसलिये आध्यात्मिक रूप से गोपियों की देह में विद्यमान रहने से चन्द्र को गोपियों के रमणसमय में दर्शन करने में दोष नहीं है ।

अब 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' भगवान् की लोक की तरह भी की गई लीला मोक्ष देने वाली है, इस न्याय के अनुसार अर्थ कहते हैं ।

'सोमः प्रथमो विविदे' 'सोम प्रथम स्त्री को प्राप्त हुआ' इस श्रुति के अनुसार सोमने स्त्रियों के देहका प्रथम से ही भोग किया है, इसलिये गोपियों के दर्शन करने से चंद्र को दोष नहीं है, कारण कि यह चंद्र स्वामिनियों के भावरूप है ।

यदि शंका करो कि गोपियों का देह अलौकिक हैं, इसलिये इनके देह सोमात्मक कैसे हो सकते हैं, जिससे चंद्र को दोष नहीं लगा ।

इस शंका का समाधान करते हैं कि ( साधारण्यश्च स्त्रियः ) साधारण देवस्त्रियों ने भी दर्शन किया था, इस प्रकार आचार्य ने अर्थ इस पंक्ति का किया है । और योजनाकार कहते हैं कि गोपियों से भिन्न साधारण स्त्रियां भी रास के दर्शन करने के लिये आईं थीं, अर्थात् रास से एक भगवद्भोग्य कृष्णवधू व्रजरमणियां ही रासक्रीडा रूप पूर्ण फलसिद्धि के लिये आई थीं, और रासके दर्शन करने के लिये तो बहुतसी अन्य साधारण स्त्रियां भी आई थीं, इसीलिये 'ब्रह्मवैवर्त पुराण में' निरूपण किया है कि रासक्रीडा में गोपियों से अन्य बहुत सी स्त्रियां भी आई थीं, इसलिये साधारण गोपवधुओं के दर्शन से चंद्र को दोष नहीं लगता है, कारण कि साधारण गोपों की स्त्रियों का देह लौकिक होने से सोमात्मक है, तथापि–चंद्रको दर्शन करने पर भी रासक्रीडा का दर्शन चंद्र को ही हितकारी नहीं हुआ, इस बात का निरूपण शुकदेव जी करते हैं, ( शशांकः ) ।

यह लौकिकचन्द्र कलंकी है, इसका आशय यह है कि, 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र.सू.३।३।१०) पूर्ण आनन्द ऐश्वर्य आदि धर्म ब्रह्म के ही है, इस न्याय के भगवान् के सकाश से ही चंद्र आनन्द की इच्छा करता है, कारण कि चंद्र स्वामिनियों के भाव रूप है, किन्तु चंद्र स्वयं पूर्ण नहीं है, इसलिये चंद्र को अपने हित की इच्छा रहती ही है।

चंद्र आनन्दमय भी है, इसमें आनन्दमय अलौकिक चंद्र ने भी भगवान् की लीला का दर्शन किया है।

मूल श्लोक में 'कामार्दिताः शशांकश्च' इस एक ही वाक्य में यहां जितने धर्मविशिष्ट चंद्र के साथ कहा, तथा विना कहा, अथवा दोनों का समुच्चय है, इसलिये कहे में, बिना कहे में अथवा दोनों में उतने ही धर्मों का आ जाना आवश्यक होता है, अतः दोनों की स्त्रियों की तरह चंद्र भी काम से पीडित हो गया है, इस बात को मूल में 'च' कार से बोध कराया गया है।

तथा उक्त वाक्य में नहीं कहा जो कलंकरहित अलौकिक चंद्र है, उसका भी वर्णन 'च' कार से ही होता है, इसलिये श्री आचार्यों ने आनन्दमय चंद्र भी है, इस प्रकार कहा है।

आगे लौकिक चंद्र का वर्णन करते हैं कि लौकिक चंद्र अपने गण, नक्षत्रसहित भगवान् की क्रीडा का दर्शन करता है, इससे रस उद्दीपन होने पर भी अन्य स्त्रियों में चंद्र का चित्त नहीं लगता है।

अब पूर्व कहे समुच्चित अर्थ का वर्णन करते हैं कि मूल के चकार से इस प्रकार का सूचित होता है कि लौकिक चंद्र भी मोहित हो गया।

देवों की स्त्रियों में, और लौकिक चन्द्र में काम से पीडा तुल्य है, इस बात को कहते हैं ( यथा )।

जिस प्रकार देवस्त्रियों को मोह होने के अनन्तर लीला का बार बार दर्शन करने से काम जागृत हुआ, और इनकी इच्छा हुई की यहाँ से जा करके हमको भी कामरूपता से क्रीडा करनी चाहिये, इस प्रकार काम से देवस्त्रियां पीडित हो गईं, उसी प्रकार लौकिक चंद्र भी काम से पीडित हो गया।

लौकिक चन्द्र स्वामिनियों के भावरूप है, इसलिये देवस्त्रियों की तरह इसको अभिलाष होना उचित ही है।

अलौकिक चन्द्र में पीडा का भिन्न निरूपण करते हैं, 'भगवति' अलौकिक चंद्र ने भगवान् में प्रवेश करने के लिये यत्न किया इसलिये काम से पीडित हुआ।

देवस्त्रियां और लौकिक चन्द्र इन दोनों को भगवद्विषयक काम से पीडा हुई, और अलौकिक चंद्र को कामिनीविषयक काम से पीडा हुई, इस प्रकार दोनों चंद्रों की पीडा में भेद है।

मूल में 'भगवति निवेशनार्थम्' यहाँ से लेकर 'जातः' यहाँ तक अलौकिक चंद्र का वर्णन है, नहीं तो, यदि यह बात नहीं मानते तो यहाँ अतिदेश से ही कामपीडा प्राप्त हो जाती है, फिर 'तथाचन्द्रोपि' इस प्रकार फिर नहीं कहना चाहिये था, अतः जातः, तक अलौकिक चन्द्र का वर्णन मानना चाहिये।

इस प्रकार यहाँ निरूपण करने में नियामक कहते हैं कि ( अनेनाग्रे ) इससे आगे, चंद्र को स्वभाव से सुख है, इस निसर्ग-स्वभाव से सुखपक्ष में चन्द्रांश निवर्तनरूप युक्ति कही है, अर्थात् 'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः' इस छब्बीसवे श्लोक में कहे पक्ष में रमण की अलौकिक ही रीति है, लोकानुसारिणी नहीं है, 'निसर्गात् सुखम्' निसर्ग से सुख इस लोकानुसारी पक्ष में चंद्र भगवान् का रेत रूप है, इसलिये चन्द्र भगवान् में प्रवेश करेगा, इस प्रकार निसर्ग पक्ष में युक्ति कही है, अर्थात्

इसी चन्द्र की किरण, इसमें से पीछे चली जायंगी। अन्यथा निसर्ग के अभाव में 'सहस्र दर्शनान्मुक्तिः' सहस्र दर्शन से मुक्ति होती है, इस सूत्र से विरोध होना है। कारण कि एक साथ स्रवण का अभाव है।

अब निसर्ग से सुख का आशय श्रीविट्ठलनाथ जी कहते हैं, 'एवं परिष्वङ्ग' प्रथम कहे १७वें श्लोक में रस शास्त्र की रीति से रमण कहा है, इस प्रकार रम शास्त्र रीति से रमण कथन से एक साथ स्रवण आदि भी प्राप्त होता ही है, कारण कि उस रमण का स्वरूप ही इस प्रकार का है, परन्तु अखण्डरूप भगवान् में एक साथ स्रवण की अपनी बुद्धि से कल्पना नहीं कर सकते हैं, और गुप्त होने से प्रकट भी नहीं कर सकते हैं, अतः 'अनेनाग्रे निसर्गात् सुखम्' इस प्रकार से शुकदेवजी ने ज्ञापन किया है, इसी से आचार्यों ने भी उसी प्रकार कहा है।

सोम की रेत रूप श्रुति सिद्ध है, इसलिये चन्द्र के अंश निवर्तन में कोई आपत्ति नहीं है।

यदि कहो कि भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने से ही उक्त सर्व हो सकता है तो फिर भगवान् में चंद्र के प्रवेश की क्या आवश्यकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, चंद्ररेत रूप है, इसलिये चंद्र आध्यात्मिक रूप से स्वरूप के भीतर स्थित है, अतः आध्यात्मिक रूप से चंद्र का प्रवेश भगवान् में आवश्यक है।

यदि कहो कि जब चंद्र भगवान् के स्वरूप में ही स्थित है, फिर चंद्र को प्रवेशरूप साधन नहीं करना चाहिये।

इसके उत्तर में कहते हैं कि चंद्र इस रमण लीला के प्रकार का प्रवेश बोध करता है, इसलिये चंद्र ने प्रवेश साधन किया है।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो यह लीला रात्रि में नहीं हो,। और यह चंद्र ( सगणस्त्री सहित ) भी स्मित हो गया, अर्थात् चंद्र को विस्मय रस ही उत्पन्न हुआ, अन्य रस उत्पन्न नहीं हुआ ॥ १९ ॥

**( सुबो० ) एवमाधिभौतिकानामाधिदैविकस्य च भगवदुत्पादितरसाभिनिवेशमुक्त्वा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुर्वि'ति प्रत्येकप्रार्थनया व्रतं कृतमिति प्रत्येकं रेम इत्याह—कृत्वेति।**

इस प्रकार आधिभौतिक स्वामिनियों की देह में स्थित जो चन्द्रात्मक भाव है, उसका तथा आधिदैविक, भगवद्भाव रूप अलौकिक चंद्र का भगवान् द्वारा उत्पन्न किया काम रस में अभिनिवेश कहकर 'नंदगोपसुतं देवि पतिं में कुरु' हे देवि नंद गोप का सुत मेरा पति करो, इस प्रकार भा. १०।१९।४ में प्रत्येक कुमारिका ने प्रार्थना करके व्रत किया था, इसलिये भगवान् ने प्रत्येक के साथ रमण किया, इसको आगे श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं।

स्त्रियों के पद्मिनी आदि सोलह भेद[1] कहे हैं, इससे एक के साथ भगवान् सहस्र प्रकार से भोग करते हैं, इसलिये सोलह हजार संख्या सर्वयूथों की है, कारण कि 'सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिः' इस प्रकार सूत्र में कहा है

**कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीगोपयोषितः।**
**रेमे स भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥ २० ॥**

सहस्रप्रकारेण भगवान् भोगं करोति।

---

[1] स्त्रीणां पद्मिन्यादिषोडशभेदाः, तेनैकस्याः सहस्रप्रकारेण भगवान् भोगं करोति। सहस्रभगदर्शनान्मुक्तिरित्युक्तेः। तस्मात् षोडशसहस्रसंख्याकानि सर्वाणि यूथानि।

**पद्पदार्थ**—( यावतीः ) जितनी ( गोपयोषितः ) गोपजाति की स्त्रियां थीं, ( तावन्तम् ) उतने ही ( आत्मानं ) अपने स्वरूप को ( कृत्वा ) प्रकट करके ( आत्मारामोऽपि ) आत्माराम भी ( सः ) वह ( भगवान् ) श्रीकृष्ण ( लीलया ) लीला से ( ताभिः ) गोपजाति की स्त्रियों के साथ ( रेमे ) रमण करता हुआ ॥ २० ॥

**भापार्थ**—जितनी गोप जाति की स्त्रियां थीं उतने ही अपने स्वरूप प्रकट करके आत्माराम भी वह भगवान् श्रीकृष्ण लीला से उन व्रजस्त्रियों के साथ रमण करता हुआ ॥ २० ॥

( सुबो० ) गोपजातीया योषितो यावत्यस्तावन्तमात्मानं कृत्वा तत्र तत्र मायोद्घाटनेन तथा तथा प्रकटो भवति। एतन्महासौरतम्। एवं करणे सामर्थ्यम्, यतः स भगवानिति! स इति तदर्थमेवावतीर्णः। अत्र तासां व्रतार्थंताभिः सहैव रेमे। न त्वात्मारामता पूर्ववत्। इममर्थमाह—आत्मारामोऽपीति। न त्वात्माराम एव चन्द्रप्रवेशाद् रमणं सम्भवति। अस्यामपि दशायामात्मारामत्वमेव। 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तद्धानि'रिति। तत्रापि आत्मारमण एव मुख्यतेत्याह—लीलयेति। यथा महानपि लीलया विसदृशं करोति। स्वयं पदातिरिव मृगयायां गच्छति। यथा अन्या अपि अवतारलीलाः, तथैतामपि कृतवानित्यर्थः ॥ २० ॥

कुमारिकाएं गोप सम्बन्धिनी स्त्रियां नहीं हैं।

इस प्रकार शंका करने पर मूल में कहते हैं ( गोपयोषितः ) गोप जाति की स्त्रियां हैं, जितनी गोप जाति की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने स्वरूप प्रकट करके भगवान् ने रमण किया है, अर्थात् भगवान् वहां वहां माया प्रकट करके उस उस प्रकार से प्रकट होता है।

यह महासौरत-महारमण है। इस प्रकार के रमण करने का भगवान् में सामर्थ्य है, कारण कि वह भगवान्-षडैश्वर्यवान् है।

मूल श्लोक में जो 'सः' कहा है, वह यह सूचन करता है कि भगवान् ने गोप जाति की स्त्रियों के साथ इस प्रकार की लीला करने के लिये ही अवतार लिया है

यहां गोप जाति की स्त्रियों के व्रत के लिये ही भगवान् ने इनके साथ रमण किया है, प्रथम अध्याय में तो 'गोपीरेवारमयत्' भगवान् ने गोपियों को ही रमण कराया था, स्वयं तो आत्माराम ही रहे, इस प्रकार कहा है, किन्त यहां तो गोपियों के साथ ही रमण है, गोपियों से भिन्न रहकर रमण नहीं किया है, इस बात को सुबोधिनी में 'एव' कार सूचन करता है प्रथम की तरह आत्मारामता नहीं है, इसी अर्थ को कहते हैं 'आत्मारामोऽपि'।

अब इस समय भगवान् अपनी प्रधानता से, अपने इच्छानुसार रमण करते हैं, इसका कारण श्रीमहाप्रभुजी बतलाते हैं (चंद्रप्रवेशात्) भगवान में चंद्र का प्रवेश होने से रमण संभव होता है। कारण कि रेतरूप चन्द्र का पुष्ट करना भावपोषक होता है, इस प्रकार स्वतन्त्र लीला में भी भगवान् आत्माराम ही है, कारण कि प्रमाण सिद्ध होने के कारण रमण, और आत्मारामत्व दोनों में विरोध का अभाव है, विरोध नहीं है, दोनों ही प्रमाण सिद्ध हैं, इसको विशेष विस्तार से विद्वन्मण्डन में गो. श्री विट्ठलनाथ जी ने कहा है।

वास्तव में तो भगवान् की लीला स्वरूपात्मक है, इसलिये भगवल्लीला मध्यपाति जितने पदार्थ हैं, वे सब स्वरूपात्मक ही हैं।

गोपियां भी लीलामध्यपातिनी हैं, 'अतः स्वरूपात्मक हैं, इसलिये यहां भी आत्मरमण ही है। इसी को आगे 'गोपीनां तत्पतीनां च' १०।३०।२६ इस श्लोक में कहेंगे।

इसी आशय से श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है कि 'तत्रापि आत्मरमण एव' 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिः' जहां पर अधिक प्रविष्ट हो जाता है, वहां उसकी हानि नहीं होती है, इस न्याय से आत्मरमण में ही मुख्यता है, इस बात को श्री शुकदेवजी कहते हैं ( लीलया ) भगवान् ने लीला से रमण किया।

अब लीला पद से ध्वनित अर्थ कहते हैं कि जिस प्रकार महान पुरुष भी लीला से 'विसदृश, जो अपने करने योग्य कार्य नहीं हो उस को भी करता है, पैरों से चलने वाले सिपाहियों की तरह स्वयं शिकार खेलने में जाता है।

और जिस प्रकार अन्य भी अवतार लीला भगवान् करते हे, उसी प्रकार यह लीला भी भगवान् ने की है, यह अर्थ है।

भवान् स्वयं ईश्वर भी है, तो भी नायिका की प्रधानता से और आप स्वयं गौण भाव से रमण करते हुए, कारण कि यह रस इस प्रकार का ही है ॥ २० ॥

ततस्तासां सुरनान्तो जात इत्याह—तासामिति।

इसके अनन्तर गोपियों के रमण का अन्त हुआ, इसका वर्णन आगे के श्लोक में श्रीशुकदेव जी करते हैं।

तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः।
प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग! पाणिना ॥ २१ ॥

**पद्पदार्थ**—( हे अङ्ग ) यह सम्बोधन यथार्थ कहने में है ( अतिविहारेण ) अत्यन्त विहार से ( श्रान्तानां ) थक गईं ( तासां ) गोप जाति की स्त्रियों के ( वदनानि ) मुखों को ( करुणः ) दयालु ( सः ) वह भगवान् ( शन्तमेन ) सुखरूप ( पाणिना ) अपने हस्त द्वारा ( प्रेम्णा ) प्रेम से ( प्रामृजन् ) मार्जन करता हुआ ॥ २१ ॥

**भाषार्थ**—हे अङ्ग अत्यन्त विहार से थकी हुई गोप जाति की स्त्रियों के मुख दयालु भगवान् सुखरूप अपने श्री हस्त द्वारा प्रेम से मार्जन करता हुआ ॥ २१ ॥

( सुबो० ) अतिविहारेणानेकबन्धैः सम्यक् श्रान्ता जाताः। ततोऽग्रिमलीलार्थं तासां वदनानि स्वहस्तेन प्रामृजत्। यतः स कृष्णः। तदर्थमेवावतीर्णः। सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुवचनम्। तथा करणे हेतुः करुण इति। मार्जने क्लेश एव करुणायुक्तः। सा करुणा उदासीना न भवतीत्याह—प्रेम्णेति। अङ्गेतिसंबोधनमप्रतारणाय। एवं तासां निवर्तत इति ज्ञापयितुं शन्तमेनेत्युक्तम्। दुःखनिवारणपूर्वकं परमानन्दं स्थापितवान् ॥ २१ ॥

अति विहार से-अनेक प्रकार के बन्धों से गोपियां अत्यन्त थक गईं, फिर आगे लीला करने के लिए गोपियों के मुख का भगवान् ने अपने श्रीहस्त से मार्जन किया, कारण कि यह कृष्ण सदानन्द है, और इसने गोपियों के लिये ही अवतार लिया है। सर्वत्र इस प्रकार हुआ है, अर्थात् सभी गोपियों के मुख का मार्जन किया है।

सभी गोपियां अति विहार से थक गई थीं, इस बात को सूचन करने के लिये मूल में 'श्रान्तानां तासाम्' इस प्रकार बहुवचन कहा है।

गोपियों के मुख मार्जन में हेतु कहते हैं कि (करुणः) भगवान् करुणा युक्त हैं, यह करुणा उदासीन-भाव रहित नहीं है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं (प्रेम्णा) भगवान् ने गोपियों के मुख का प्रेम से मार्जन किया है।

मुखमार्जन में क्लेश ही दूर होता है, इसको ज्ञापन करने के लिये कहते हैं कि ( शन्तमेन ) लोक में मार्जन करने से क्लेश दूर ही होता है, किन्तु अधिक सुख प्राप्त नहीं होता है, इस कारण से यहां क्लेश दूर, तथा अधिक सुख दोनों ही 'शतम' पद से सूचन किये हैं।

श्लोक में 'अङ्ग' यह सम्बोधन सूचन करता है कि श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित से वञ्चन करने के लिये नहीं कहते हैं किन्तु यथार्थ कह रहे हैं, इस प्रकार गोपियों का दुःख दूर करके भगवान् ने गोपियों में परमानन्द स्थापन किया है ॥ २१ ॥

( सुबो० ) ततोऽतिमुदितानां कृत्यमाह—गोप्य इति।

अब इसके अनन्तर आगे के श्लोक में अत्यन्त आनन्दित गोपियों का कार्य कहते हैं।

**गोप्यः स्फुरत् पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्-**
**गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणेन ।**
**मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि**
**पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ॥ २२ ॥**

**पदपदार्थ**—( स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विड्गण्डश्रिया ) उज्ज्वल सुवर्ण के कुण्डल तथा केशों की कान्ति युक्त कपोलों की शोभा से ( सुधितहासनिरीक्षणेन ) सुधा की तरह प्राप्त हास पूर्वक निरीक्षण से ( मानं ) मान को ( दधत्यः ) धारण करतीं (गोप्यः) गोपियां ( तत्कररुहस्पर्शप्रमोदाः ) भगवान् के नखस्पर्श से आनन्द को प्राप्त हुईं ( ऋषभस्य ) श्रेष्ठ भगवान् के ( पुण्यानि ) पुण्यजनक, और पाप दूर करने वाले ( कृतानि ) किये कर्मों का (जगुः) गान करती हुईं ॥ २२ ॥

**भाषार्थ**—उज्ज्वल सुवर्ण के कुण्डल तथा केशों की कान्तियुक्त कपोलों की शोभा से, और सुधा की तरह प्राप्त हासपूर्वक निरीक्षण से मानधारण करती गोपियां भगवान् के नखस्पर्श से आनन्दित हुईं भगवान् के पुण्य कर्मों का गान करने लगीं ॥ २२ ॥

( सुबो० ) गोप्यो मानं दधत्यः तत्कृतानि जगुः। गाने हि रजोगुणाभिनिवेशो हेतुः। तदर्थं सहजमेकं भगवत्कृतं च हेतुद्वयमाह। तत्र प्रथमं सहजं निरूपयति। स्फुरद्यत् पुरटं सुवर्णं दाहोत्तीर्णमुज्ज्वलीकृतं च, तस्य ये कुण्डले कुन्तलाश्च, तेषां त्विषा सहिता या गण्डश्रीः। उज्ज्वला गण्डश्रीः पीता वा। उज्ज्वला नीला चेतरे। एवं कान्तित्रयं मूलभूतगुणकार्यरूपम्। तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता। सुधितं सुधामिव प्राप्तं यद्धासपूर्वकं निरीक्षणम्। अत्राप्यन्तःस्थितो रागः निरीक्षणं हासश्चेति त्रितयमुक्तम्। भगवदीयमेतत्। अतः उभाभ्यां

सन्माननमभिमानं वा दधत्यः स्वहृदयकृतविपरीतबुद्धया जातदोषनिराकरणार्थं तत्कृतानि जगुः। तेषां न केवलं पापनिवर्तकत्वम्, किन्तु पुण्यरूपत्वमपीत्याह पुण्यानीति। भगवता कृतानि पापनिवर्तकानि पुण्यजनकानि च। अतस्तासां दोषाभावः। अग्रिमलीलायां पुण्योपचयश्चोक्तः। पूर्वक्लेशविस्मरणार्थमानन्दाविर्भावमाह। तस्य भगवतः कररुहा नखाः, तेषां स्पर्शेन जातपीडया स्मृतसम्भोगाः प्रमुदिताः जाताः। अन्तःपूर्णानन्दा गानेनापि जाता इति अन्ते विशेषणम् ॥ २२ ॥

भाषा—गोपियां मान धारण करती भगवान् के किये कर्मों का गान करती हुईं, गान करने में कारण यह है कि गोपियों में रजोगुण प्रविष्ट हो गया है। इस श्लोक से पहिले श्लोक में कहा है कि भगवान् स्वाधीन भर्ता हैं, अर्थात् गोपियों के अधीन हैं।

इस श्लोक में भी गोपियों के कुण्डल, केश, और कपोलों की शोभा, प्रिय भगवान् ने अपने श्रीहस्त कमल से संपादन की है, इसलिये इन गोपियों को जो मान हुआ, उसमें कुण्डल आदि की शोभा संपादन करना हेतु है, इस प्रकार यह शोभा गोपियों में स्थित है, इससे मान स्वाभाविक है।

इस प्रकार उत्साह विशेष जो गान का उत्पन्न करने वाला मान है, वह रजोगुण शब्द से कहा जाता है।

पहिले मान से गोपियों को दुःख हुआ था, किन्तु इस समय उस प्रकार का पहिले का-सा मान नहीं हुआ है, इसलिये गोपियों ने गुणगान किया है।

मान उत्पन्न होने में श्री शुकदेव जी मूल श्लोक में दो कारण बतलाते हैं, एक सहज है, दूसरा कारण भगवान् ने किया है, इस प्रकार दोनों हेतु कहते हैं, उसमें प्रथम शुकदेव जी सहज कारण का निरूपण करते हैं, (स्फुरत्) इत्यादि से, स्फुरन्–प्रकाश करता जो 'पुरट' सुवर्ण अग्नि में तपाकर निकाला तथा उज्जवल किया, उस सुवर्ण के कुण्डल, और केशों की त्विषा कान्ति से, अथवा कुण्डल तथा केशों की कान्ति सहित, जो गण्ड–कपोलों की शोभा है।

गोपियों के कपोलों की शोभा उज्ज्वल रंग की, अथवा कोई कहते हैं पीले रंग की है।

गोपियों के कुण्डलों की शोभा हीरा आदि की कान्ति से उज्ज्वल थी, और केशों की शोभा नीले रंग की थी। इस प्रकार उज्ज्वल, पीली, और नील तीन प्रकार की शोभा में कारणभूत भगवान् के गुण का कार्य रूप है, तीन प्रकार की कान्ति भगवान् की चतुराई का कार्य है, अन्य का नहीं है, इसको श्री महाप्रभु जी कहते हैं ( तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता )।

इससे गोपियों की तीन प्रकार की शोभा वर्णन करने से सब से उत्कर्ष-श्रेष्ठ मान संपादन में योग्यता है, अर्थात् मान धारण करने में हेतु है।

'सुधितहासनिरीक्षणेन' 'सुधितं' अमृत की तरह प्राप्त जो हासपूर्वक भगवान् का निरीक्षण, यहाँ भी भीतर स्थित राग, निरीक्षण और हास तीन कहे हैं, ए तीनों भगवदीय हैं, भगवान् ने किये हैं, इस प्रकार यह दूसरा हेतु गोपियों के मान धारण में कहा है। उक्त हेतु भगवत्कृत है, गोपियाँ कुण्डल आदि की शोभा तथा निरीक्षण, इन दोनों कारणों से सम्मान अथवा अभिमान को धारण करती, अपने हृदय में की हुई विपरीत बुद्धि से उत्पन्न जो दोष, उस दोष को निवारण करने के लिये भगवान् के किये कर्मों का गान करती हुईं।

गोपियों की विपरीत बुद्धि इस प्रकार की हुई कि हम सबसे अधिक हैं, इस प्रकार के ज्ञान से उत्पन्न मान हुआ, उस मान की निवृत्ति के लिये भगवत्कर्मों का गान करने लग गईं।

भगवान् के कर्मों का गान केवल अभिमान रूप आदि पाप निवृत्त करने वाला नहीं है, किन्तु पुण्य भी—पुण्य उत्पन्न करने वाला भी है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि 'पुण्यानि'।

भगवान् के किये कर्म पाप निवर्तक और पुण्य उत्पन्न करने वाले हैं, यहां गान से उत्पन्न हुआ पुष्ट भाव विशेष को अलौकिक इष्ट साधन करने वाला पुण्य पद से कहा है। इसलिये गोपियों में दोष का अभाव है, दोष नहीं है, और आगे की लीला में पुण्य का संग्रह भी कह दिया है।

अब पूर्व क्लेश भुलाने के लिये आनन्द का आविर्भाव कहते हैं। इस श्लोक से पहिले श्लोक में जो 'शन्तम' पद कहा है, उससे सूचित गोपियों को सुख उत्पन्न होने पर क्लेश की निवृत्ति वर्णन की है, किन्तु क्लेश का विस्मरण नहीं कहा है, इस श्लोक में तो आनन्द से गोपियां क्लेश दुःख भूल गईं इस बात को कहते हैं कि 'तत्कररुह स्पर्श प्रमोदाः'।

भगवान् के जो कर रुह नख हैं, उन नखों के स्पर्श से जो गोपियों को पीडा हुई, उससे गोपियों को संयोग सुख का स्मरण हो गया, इसलिये गोपियाँ प्रमुदित-अत्यन्त आनन्दित हुई हैं।

गोपियों ने भगवान् के किये कर्मों का गान किया, इससे भीतर पूर्ण आनन्द का प्रादुर्भाव हो गया। इस बात को कहने के लिये शुकदेव जी ने अन्त में 'तत्कररुह' यह गोपियों को विशेषण दिया है ॥ २२ ॥

( सुबो० ) नमस्तामिस्तुल्याभिर्भगवान् जलक्रीडां कृतवानित्याह—ताभिर्युत इति।

इसके अनन्तर अपने तुल्य गोपियों के साथ भगवान् जलक्रीडा करते हुए, इसको आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी कहते हैं।

**ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्ग-**
**घृष्टस्रजः स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः।**
**गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः**
**श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥ २३ ॥**

**पदपदार्थ**—( श्रान्तः ) थका ( भिन्नसेतुः ) पानी की मर्यादा ( मेंड ) जिसने तोड़ दी ( श्रमम् ) थकावट को ( अपोहितुम् ) दूर करने के लिये (गजीभिः) हथिनियों के साथ जल में (इभराड् इव) गजराज की तरह, (श्रान्तः) थका, (भिन्नसेतुः) मर्यादा जिसने भङ्ग की अर्थात् अपनी ब्रह्ममर्यादा आत्माराम रूप, तथा जीवमर्यादा भंग करने वाले ( स्वकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ) गोपियों के स्तनों में लगी हुई कुंकुम से रंगी हुई ( अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः ) परस्पर अङ्गसङ्ग से संघर्षित मिड़ गई माला के ( गन्धर्वपालिभिः ) गंधर्वों में उत्तमरूप भ्रमरों से अनुद्रत—अर्थात् माला के पीछे गंधर्वोत्तम-भ्रमर जा रहे हैं। अतः शीघ्र गमन कर रहे हैं इस प्रकार के भगवान् ( श्रमम् ) थकावट को ( अपोहितुं ) दूर करने के लिये ( ताभिर्युतः ) गोपियों के सहित ( वाः ) श्री यमुनाजल में ( आविशत् ) प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

**भाषार्थ**—जिस प्रकार थका हुआ पानी की मेंड़ तोड़ने वाला गजराज श्रम दूर अपना आ करने के लिये हथिनियों के साथ जल में प्रवेश करता है, उसी प्रकार सब गोपियों के साथ अपनी ब्रह्ममर्यादा आत्मारामरूप तथा जीवमर्यादा तोड़कर श्रान्त भगवान् थकावट दूर करने के लिये गोपियों के स्तनों में लगी कुङ्कुम से रंगी और परस्पर अङ्गसङ्ग से संघर्षित मिड़ी हुई माला के पीछे गंधर्वोत्तम रूप भ्रमर जा रहे हैं अतः त्वरा से गमन कर रहे हैं इस प्रकार के भगवान् श्री यमुनाजल में क्रीड़ा करने के लिये प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

( सुबो० ) ताभिः सर्वाभिरेव। महारात्रसमये यमुनायां जलक्रीडार्थं प्रविष्टः। तत्र प्रयोजनं श्रममपोहितुमिति। तासां सर्वाङ्गश्रमं जलक्रीडयैव दूरीकुर्वन्। भगवतस्ताभिः सह गमने जायमानां शोभां वर्णयति—स्रजः गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत इति। यमुनाया वा विशेषणानि। गंधर्वाणां रक्षकाः गन्धर्वपाः गंधर्वोत्तमाः। तेच ते अलयश्च तैरनुद्रुतः। सङ्गे शीघ्रं गतः वाः आविशत्। आमोदस्य निवारणार्थं च तथाकरणम्। सम्भोगेन श्रमोदके पद्मिनीनां कमलरूपो गन्धो भवति। यदुपरोधेन च द्रुतपदविन्यास इत्यनुद्रवणम्। ते च भ्रमरा भगवदीया एवेत्याह। अङ्गयोः सङ्गेन घृष्टा या स्रक् तस्यास्ते। यस्यां वा स्रक् भगवत एव माला। कालिन्दी च तादृशी। स्वा चासौ कुचकुङ्कुमरञ्जिता च। तत्र देहामोदः पुष्पामोदः कुङ्कुमामोदश्चेति। स्वकीयकुचकुङ्कुमै रञ्जिता। आधिदैविकास्ते भ्रमरास्तद्गन्धभोक्तार इति विशेषणं गंधर्वत्वेनासाधारण्यं च। प्रत्येकसम्भोगावधि भगवतोऽपेति। श्रान्त इति विशेषणः लीलया गमनार्थम्। गजीभिरित्यन्यश्रमोन्यो भावो निरूपित इति तदपगमात् श्रमलीलाप्याविष्कृता। ते सर्वे भिन्नाः तादृशगजेन भवन्ति। सेतवो बध्यन्ते जलरक्षार्थंम। निवारितः। मर्यादा तथा सति भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्वरूपा जीवानां च परदाराणामभिमर्षणाच्च। पूर्वं तासां भगवत्-स्पर्शनिवृत्ता। कामरूपस्पर्शात् कामाभावात्। देशकालमर्यादा च एव स्थितः, नतु भगवता ताः स्पृष्टा इति। अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरीकृत्य स्वयं तत्र प्रविष्ट भग्ना। इत्यर्थः ॥ २३ ॥

भगवान् सब गोपियों के साथ ही अर्धरात्र समय श्री यमुनाजी में जलक्रीडा करने के लिये पधारे, इसमें कारण कहते हैं कि—

"श्रममपोहितुम्' श्रम दूर करने के लिये, पधारे।

भगवान् ने गोपियों के सर्व अङ्ग का श्रम, जलक्रीडा से ही दूर करने के लिये श्री यमुना जी में प्रवेश किया, यद्यपि गोपियों का क्लेश भगवान् ने मुखमार्जन करके निवृत्त कर दिया था, यह बात पहिले २१ वें श्लोक में कह चुके हैं, तथापि कहीं कहीं स्थित श्रमजल—पसीना था, उसकी निवृत्ति जलक्रीडा से की है।

अब श्री शुकदेव जी गोपियों के साथ भगवान् की यमुना जी में गमनसमय की शोभा-वर्णन करते हैं। "स्रजः गन्धर्वपालिभिरनुद्रुतः"

गंधर्वों में उत्तम रूप भ्रमर भगवान् की माला के पीछे जा रहे हैं, इस प्रकार भगवान् की शोभा हो रही है।

अथवा श्री यमुना जी के विशेषण जानने चाहिये।

गंधर्वों के रक्षा करने वाले गंधर्वप, गंन्धर्वोत्तम होते हैं, गन्धर्वोत्तम रूप भ्रमर हैं, भ्रमरों से भगवान् अनुद्रुत हैं, अर्थात् भगवान् भ्रमरों के संग में शीघ्र जाते श्री यमुनाजी के जल में प्रविष्ट हो गये, सम्भोग सूचक आमोद--गन्ध प्रातःकाल तक राखना ठीक नहीं है, इस कारण से तथा श्रम निवृत्त करने के लिये भगवान् ने श्री यमुनाजल में क्रीडा की है, पद्मिनी स्त्रियों के साथ संभोग करने से श्रमोदक में कमल रूप गन्ध होता है। इसलिये यदि गन्ध शेष रह जाता है तो सम्भोगसूचन कर सकता है, अतः गन्ध निवारण आवश्यक है।

भगवान् के गमन में भ्रमरगण और गोपियां प्रतिबन्ध करती हैं, इसलिये भगवान् जल्दी-जल्दी चरण धरते हैं, और भ्रमर भी पीछे दौड़ते हैं।

भ्रमर भगवदीय हैं, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं "अङ्गसङ्गघृष्टस्रजः" परस्पर अङ्ग-सङ्ग से सघर्षित-मिड़ी जो माला, उस माला के सम्बन्ध वाले भ्रमर हैं।

अथवा श्री यमुनाजी का विशेषण मानने में, श्री यमुना जी में परस्पर अङ्ग-सङ्ग से माला मिड़ गयी है, इस प्रकार का श्री यमुनाजल "स्वकुचकुंकुमरञ्जितायाः" अपने देह को सर्व गोपियों के कुचों में लगी हुई कुंकुम से रंगी हुई, इस प्रकार की भगवान् की माला है।

"स्वकुच" इत्यादि विशेषण श्री यमुना जी का मानने में श्री महाप्रभु जी आज्ञा करते हैं कि कालिन्दी गोपियों के स्तनों में लगी हुई कुंकुम से—केशर से रंगी हुई है।

भगवान् की माला में देह की गंध, पुष्पों की गंध, और कुंकुम-केशर की गन्ध इस प्रकार तीन गन्ध हैं, माला भगवान की है, इसलिये असाधारण है।

"अंगसंगघृष्टस्रजः" इस विशेषण को श्री यमुना जी का मानने में भ्रमर माला सम्बन्धी हैं, इस बात को ज्ञापन करने के लिये "गंधर्वप" यह विशेषण भ्रमरोंका कहते हैं कि 'आधिदैविकाः'

भ्रमर आधिदैविक हैं, अर्थात् भगवान् की अन्तरङ्गलीला में रहने वाले हैं, और सम्भोग से उत्पन्न वनमाला की दिव्य गन्ध का भोग करने वाले हैं, 'गन्धर्वप' गान करने वालों में श्रेष्ठ होते हैं, इसलिये अन्तरंगलीला करने के समय में भी भगवान् के पास स्थित होकर गान करने के लिये योग्य हैं।

इस समय भगवान् को किसी प्रकार का विचार नहीं रहा, इसका हेतु शुकदेव जी कहते हैं कि 'श्रान्तः इभराडिव' थके गजराज की तरह, भगवान् ने जल में प्रवेश किया।

'श्रान्त' विशेषण लीला से गमन करने के अर्थ में है।

जहां तक प्रत्येक गोपी के साथ भगवान् ने सम्भोग लीला की, वहां तक भगवान् का अन्य भाव निरूपण किया, अर्थात् पहिले कहा चन्द्र स्थापन रूप भाव निरूपण किया, उसके जाने से अर्थात् चन्द्रांश का निवर्त्तन होने से श्रमलीला भी प्रकट हुई। सम्भोग से श्रम हुआ अन्य प्रकार से श्रम नहीं हुआ, इस बात को 'गजीभिः' हथिनियों के साथ प्रविष्ट हुए, यह पद सूचन कर रहा है।

जल की रक्षा करने के लिये सेतु बांध बनाये जाते हैं, मेंड़ बनाई जाती हैं, वे सब इस प्रकार के गजराज द्वारा भिन्न—तोड़े जाते हैं, भगवान् ने भी अपनी ब्रह्ममर्यादा-आत्मारामत्वरूप,

और जीवों की मर्यादा, इस प्रकार रमण करसे से निवृत्त कर दी, कारण कि कामरूप-स्पर्श से—भोग से तथा परस्त्रियों के साथ संग करके, मर्यादा भंग कर दी है।

इस अध्याय के प्रथम में 'अत्रैव लोके प्रकटम्' इत्यादि कारिकाएँ कही हैं, इन कारिकाओं में कहा है कि आधिदैविक उत्तम 'काम' सुख का भगवान् कृष्ण ही भोग भोगता है, अन्य कोई नहीं भोग करता है। भगवान् पुरुषोत्तम का स्वरूप कामात्मक है, इस कामरूप से गोपियों का भोग किया है, इससे भगवान् का आत्मारामत्व निवृत्त हो गया, और पर स्त्रियों के साथ संग करने से नम्र भाव से जो भगवान् का हास्य करने की जीवमर्यादा थी, उसकी निवृत्ति हो गई। इस प्रकार ब्रह्म और जीवमर्यादा दोनों ही भगवान् ने तोड़ दीं।

भगवान ने अपने निज जनों को तो अपने साथ संग करने का अधिकार दिया ही है, इसलिये श्री महाप्रभु जी ने यहां सुबोधिनी में 'परदाराणामभिमर्षणाच्च' इसमें 'पर' शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में तो परत्व दूषित है, तो भी रस के लिये परकीयात्व स्थापन करके ही भगवान्ने लीला की है।

विकाररहित होना ब्रह्ममर्यादा है, भगवान् में श्रृंगार रसात्मक अनेक विकार प्रकट हुए, अतः ब्रह्म-मर्यादा तिरोहित हो गई।

जबतक रस में अत्यन्त पुष्टता थी, तबतक भगवान् ने गोपियां अपने से अभिन्न ही जानी थीं, अर्थात् अपने से पृथक् नहीं जानी थीं, और इनके साथ क्रीड़ा की, उस समय तक भगवान में आत्मारामत्व ही रहा, किन्तु जिस समय श्रृंगार रस अत्यन्त पुष्ट हुआ, उस समय भगवान में जो गोपियां मुझसे भिन्न नहीं हैं, इस प्रकार का ज्ञानांश था, उसका तिरोभाव हो गया, और केवल आनन्दांश का आविर्भाव रह गया।

इसलिये गोपियों में भगवान की आत्मत्व स्फूर्ति भी नहीं रही, भिन्न स्फूर्ति हुई, अर्थात् नायिका भाव की स्फूर्ति ही हुई, अतः भगवान की आत्मारामत्वमर्यादा भी तिरोहित हो गई।

यदि कहो कि रमण तो प्रथम २६ वीं अध्याय में भी कहा है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रथम अध्याय के रमण में और इस अध्याय के रमण में अन्तर है, अर्थात् पूर्वाध्याय के रमण से इस अध्याय का रमण विशेष है, इसी बात को स्पष्ट कहते हैं कि प्रथम गोपियों ने भगवान का स्पर्श ही किया था, किन्तु भगवान ने गोपियों का स्पर्श नहीं किया था, कारण कि भगवान में उस समय काम का भाव नहीं था।

'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते' अ० २६।४२ कारिका ?

इसमें भगवान् को काम का अभाव निरूपण किया है, इसलिये यहां भगवान् का यथेच्छ भोग करना विशेष है।

भगवान् ने देश और काल मर्यादा भी तोड़ दी, इसलिये श्रेष्ट हाथी की तरह जलक्रीडा करने के लिये जल देवता को दूर करके स्वयं जल में प्रवेश किया, यह अर्थ है।

देश शब्द से गोपियों के अवयव—अर्थात् शरीर के पृथक्-पृथक् अवयवों में चुम्बन, दंश आदि से स्पर्श भोग करने का वर्णन रसशास्त्र में किया है।

इस प्रकार के भोग-रसानुभव को देशमर्यादा कहते है।

भगवान ने गोपियों के अवयवों का स्पर्श यथेच्छ—अपने इच्छानुसार किया है, रसशास्त्र की रीति अनुसार नहीं किया है, इसलिये भगवान् ने देशमर्यादा भंग की है, अर्थात् देशमर्यादा दूर कर दी।

रसशास्त्र में कहा है कि प्रतिपदा आदि तिथियों में पृथक्-पृथक् बन्ध आदि करने चाहिये, इत्यादि रूप मर्यादा, तथा 'पद्मिनी तुर्ययामे' पद्मिनी स्त्री के साथ चतुर्थ प्रहर में रमण करना चाहिये, इत्यादि वाक्य से अमुक प्रहर में अमुकप्रकार की नायिका प्रसन्न करनी चाहिये, इस प्रकार की रसशास्त्रोक्त कालमर्यादा भी यथेच्छ क्रीडा करने से भंग कर दी, इसीसे श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी में कहा है 'देशकालमर्यादा च भग्ना' इसमें चकार से ब्रह्ममर्यादा सूचन की है, अर्थात् भगवान् ने ब्रह्ममर्यादा भी दूर कर दी है।

मूल में 'आविशत्' इस क्रिया में 'आङ्' उपसर्ग कहा है, उसका अर्थ श्री महाप्रभुजी सुबोधिनी में कहते हैं 'जलदेवतां दूरीकृत्य' जल देवता को दूर करके स्वयं भगवान् जल में प्रविष्ट हुए।

श्री पुरुषोत्तम जी प्रकाशकार कहते हैं कि इस विषय में श्री हरिरायजी आज्ञा करते हैं कि २६।२७।२८।२९ इन चार अध्यायों की लीला में यद्यपि भगवान् ने गोपियों का स्पर्श किया है, तथापि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' १०।२६।४२ 'रेमे तया चात्मरत आत्मारामोऽपि' भा० १०।२७ ३४ 'तासामाविरभूत्' भा० १०।२९।२ 'काचित्कराम्बुजं' भा० १०।२९।४ इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है कि गोपियों की इच्छा से ही भगवान् ने रमण किया है, अपना सामर्थ्य प्रकट करके स्वार्थ के लिये नहीं किया है, इसलिये वहाँ की लीला में 'त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदम्' इस प्रकार नहीं कहा है, किन्तु इस लीला के प्रारम्भ में ही कहा है, इसीसे श्री मदाचार्यों ने इस ३० वें अध्याय के प्रारम्भ में 'स्वानन्दार्थमितीर्यते' इस प्रकार आज्ञा की है।

प्रथम कहे चार अध्यायों में रमण का सत्त्व होने पर भी श्रमलीला प्रकट नहीं हुई, इस तीसवें अध्याय में तो भगवान् ने अपनी इच्छा से सब किया है, इसलिये भगवान् में लौकिक सजातीय—लौकिक का-सा कामभाव तथा सुरत का अन्त हुआ।

लौकिक का-सा भाव होने पर जिस प्रकार आत्मारामात्व आदि मर्यादा भंग हुई, उसी प्रकार देशकालमर्यादा भी भंग हो गई, देश—अर्थात् रस के अनुभव करने का स्थान, काल—अर्थात् रस अवष्टम्भ-धारण करने का समय, इसी से भगवान् मर्यादा भंग करते जल क्रीडा करने के लिये श्री यमुना जल में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार पुरुषोत्तम जी ने हरिराय जी का मत प्रदर्शन किया, अब श्री पुरुषोत्तम जी तो इस विषय में स्वयं इस प्रकार कहते हैं कि मुझको तो यह प्रतिभास होता है कि पहली लीला में 'आत्मारामत्व' तथा भक्तों का विक्लव-विकल । ध्यान में रखकर ही भगवान् ने लीला की है, और तीसवें अध्याय में वर्णन की हुई लीला में तो हाथी का दृष्टांत, तथा सेतुभंग आदि विशेषण से आत्मारामत्व और भक्तों के क्लेश का अभाव बोधन किया है, इसी से इस अध्याय की लीला लोक तुल्य जानकर राजा परीक्षित ने भी धर्मसेतु-भङ्ग करने के सन्देह से इस लीला में प्रश्न किया है।

वास्तविकता से तो इस लीला में गज, दृष्टान्त देने से और पहले बीसवें श्लोक में 'आत्मारामोऽपि लीलया' इसमें 'लीलया' लीला से रमण किया, इस पद का प्रयोग किया है, इसलिये ब्रह्मधर्म आदि का भंग करने पर भी इसमें भगवान् को श्रम नहीं कहा है।

भगवान अक्लिष्टकर्मा है, इस बात का बोध करने के लिये 'लीलया' इस प्रकार कहा है, इसलिये मर्यादा भंग होने पर भी भङ्ग नहीं हुई, इससे तो भगवान् के निरंकुश-आत्मतन्त्रत्व का समर्थन होता है।

यदि इस प्रकार भगवान् निरंकुश-आत्मतन्त्र स्वाधीन हैं, इस बात को नहीं मानते तो स्वधर्म-ऐश्वर्यादि के अधीन होने से स्वतन्त्रता भंग होती है, और देशकाल के द्वारा रस का अनुभव करने में तथा अवष्टम्भ-रस धारण करने में यदि भगवान् देशकाल की मर्यादा पालन करें तो देश काल के अधीन होने से ब्रह्मरूपत्व भंग हो जाता है, इसलिये स्वतन्त्रता और ब्रह्मरूपत्व, इन दोनों के रक्षार्थ देश-काल की निवृत्ति के लिये भगवान ने देशकाल की मर्यादा भंग की है, इसी से अन्तरङ्गमर्यादा श्री महाप्रभु जी कहते हैं कि 'अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां दूरीकृत्य स्वयं तत्र प्रविष्टः' इसका अर्थ पूर्व में कहा है ॥ २३ ॥

( सुबो० ) तत्र जलक्रीडां च कृतवानित्याह—स इति।

भगवान् गोपियों के साथ श्री यमुनाजल में प्रवेश करके वहाँ क्रीडा करते हुए, इस बात का आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी वर्णन करते हैं।

**सोऽम्भस्यलं युवतिभिः परिषिच्यमानः**
**प्रेम्णेक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग !**
**वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो,**
**रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥ २४ ॥**

**पदपदार्थ**—( हे अङ्ग ) इस संबोधन का आशय यह है कि अङ्ग होने से तुझसे इस लीला को कहता हूं ( सः ) वह प्रथम स्त्रियोंसहित कहा भगवान् ( अम्भसि ) श्री यमुनाजल में ( युवतिभिः ) गोपियोंद्वारा ( परिषिच्यमानः ) चारो ओर से खूब अभिषिक्त किया-सिञ्चन किया, ( प्रहसतीभिः ) फिर हँसती हुई गोपियों द्वारा ( इतस्ततः ) चारो तरफ सिञ्चित भगवान् को ( प्रेम्णा ) प्रेम से ( ईक्षितः ) देखा गया ( कुसुमवर्षिभिः ) पुष्पों की वर्षा करने वाले (वैमानिकैः) विमान में बैठे देवताओं से (ईड्यमानः) अभिनन्दित (स्वयं) आप (स्वरतिः) अपनी आत्मा में रमण करने वाले भगवान् ( आत्तगजेन्द्रलीलः ) गजेन्द्रलीला स्वीकार करने वाले ( रेमे ) रमण करते हुए ॥ २४ ॥

**भाषार्थ**—हे अङ्ग उस भगवान् को जल में युवतियों ने चारो तरफ से खूब अभिषिक्त किया सींचा, और फिर हँसती हुई गोपियों ने जहाँ-तहाँ अभिषिक्त भगवान् का श्री अङ्ग प्रेम से देखा, पुष्पों की वर्षा करने वाले विमानों में बैठे देवताओं से अभिनंदित भगवान् स्वयं आत्माराम गजेन्द्र-लीला स्वीकार करके रमण करते हुए ॥ २४ ॥

( सुबो० ) स पूर्वोक्तः स्त्रीसहितः। अम्भसि अलं युवतिभिः परिषिच्यमानो जातः। ततः प्रेम्णा ईक्षितश्च। प्रहसतीभिः कौतुकाभिनिविष्टाभिः इतस्ततः सिच्यमानः, यदभिमुखमेव व्रजति, तयैव सह रेमे इति। एवं सर्वाभिः। यथा स्वयं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं निर्भरस्नेहेन निर्दोषभावेन वदति शुकः, तथैव राजापि शृणोतीति ज्ञात्वा स्नेहेन स्वमध्यपातित्वं सूचयन् सम्बोधयति—अङ्गेति। अतएव तुभ्यमिमां लीलां वदामीति भावः। ननु देवैः कथं न निषिध्यते, तत्राह-कुसुमवर्षिभिर्वैमानिकैरीड्यमान इति। सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्ति, न तु निारणमित। परिषेके वीरः अन्यथा लोके कामरसो न व्यक्तो भवेदेति युवत्य इत्यविचारे। स्वयमितिपदेन बलात्कारेणापि तथेति रसो मा भवत्विति प्रेम्णैव ईक्षितः।

**सूच्यते । तदापि स्वस्मिन्ने वरतिर्यस्य । वरं स्वीकृता गजेन्द्रलीला येन । यथा यथा जलेनोक्षणम्, तथा तथा सुखमिति गजदृष्टान्तः महासौरतं च ॥ २४ ॥**

वह प्रथम कहा स्त्रियोंसहित भगवान् ने जल में युवतियों को पूर्ण अभिषिक्त किया, इसके अनन्तर प्रेम से ईक्षण किया, देखा । फिर अत्यन्त हँसती हुई कौतुक जिनमें प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार की गोपियों में इधर-उधर सिञ्चित किये गये भगवान् जिस गोपी के सामने जाता है, उसी गोपी के साथ रमण करता हुआ, इस प्रकार सब गोपियों के साथ भगवान् ने रमण किया ।

जिस प्रकार श्री शुकदेव जो स्वयं माहात्म्य ज्ञानपूर्वक अत्यन्त स्नेह और निर्दोष भाव से कहते हैं, उसी प्रकार राजा परीक्षित भी श्रवण कर रहा है, इस बात को जान करके श्री शुकदेव जो स्नेह से राजा परीक्षित को अपना अन्तरङ्ग सूचन करते सम्बोधन देते हैं कि ( हे अङ्ग ) राजन् तुम मेरे अङ्ग हो इसलिये इस लीला को तुम्हारे लिए कह रहा हूं, यह भाव है ।

यदि शंका करो कि यथेच्छक्रीडा करने में भगवान् को देवों ने निषेध क्यों नहीं किया । और बहुत लोग एक ही समय में बिना विचारे जल से दूसरे मनुष्य का अत्यन्त सिञ्चन करें तो, वह मनुष्य व्याकुल हो जाता है, यह बात लोक में देखी गई है, इसलिये यहां भी भगवान् व्याकुल हो गये होंगे, अतः व्याकुल होने की सम्भावना से अन्तरङ्ग भक्तों को भगवान् का अभिषेक धीरे-धीरे करना चाहिये, इस प्रकार सब मिलकर एक साथ एक समय में मत करो । इस प्रकार देवों ने स्वामिनियों से विज्ञप्ति विनती क्यों नहीं की ?

इस शंका के उत्तर में श्री शुक मुनि कहते हैं कि ( कुसुमवर्षिभिर्वैमानिकैरीड्यमानः ) विमानों में स्थित देवों ने पुष्पों की वृष्टि करके भगवान् की स्तुति की, अतः देवों ने भगवान् का अभिनन्दन ही किया है, निषेध नहीं किया है, यदि देव निषेध करते तो लोक में कामरस प्रकट नहीं होता ।

गोपियों के साथ में भगवान् के रमण का दर्शन अन्य भक्तों को भी दुर्लभ है, परन्तु प्रथम इस अध्याय के चतुर्थ श्लोक में 'विमानशतसंकुलम्' देवों के सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया था, इस प्रकार निरूपण किया है, इसलिये विमानों में स्थित देवों के लिये दर्शन की संभावना की जाती है, देवों को तो प्रभुलीलोपयोगी मण्डप रूप आकाश में स्थिति लक्षण संबंध से ही आनंद उत्पन्न हो गया, और भगवान् की इच्छा से पुष्प वृष्टि, भगवान् की स्तुति, और रस प्रविष्ट ही हुआ, किन्तु भगवान् की लीला का दर्शन नहीं हुआ ।

यद्यपि देवों को भगवल्लीला का दर्शन हो जाता तो भी गोपियों से कुछ भी कहने का सामर्थ्य देवों में नहीं है, कारण कि केवल भगवान् के बिना अन्य किसी को भी गोपियों से कहने का अधिकार नहीं है, तथापि जो किया कार्य अन्य पुरुष को दुःखदायी होता है, वह गोपियों का किया भगवान को अत्यन्त सुख देने वाला होता है, इस बात का ज्ञापन करने के लिये श्री मदाचार्यों ने आभास में कहा है, ( ननु देवैः कथं न निषिध्यते ) देवताओं ने गोपियों से निषेध क्यों नहीं किया, इस प्रकार कहा है ।

इसी कारण से शुकदेव जी ने भी कहा है कि ( आत्तगजेन्द्रलीलः ) भगवान् ने गजेन्द्र लीला स्वीकार की है । अतः भगवान् जिस प्रकार गोपियाँ सिञ्चन करती हैं, उस प्रकार से भगवान भी गोपियों के ऊपर जल के छींटाओं का बदला अपने दोनों हस्तों से छिरक कर ले सकते हैं, किन्तु भगवान् गोपियों को सिञ्चन नहीं करते हैं, और उलटे अपनी दोनों बाहु गोपियों के सामने ही पसारते हैं, इसी आशय से यहां कहते हैं कि सर्व देव भगवान् का अभिनन्दन ही

---

करते हैं, निषेध नहीं करते हैं । भगवान की दोनों बाहु देवता रूप हैं, इसलिये बाहु के अवयवभूत अङ्गुली करतल आदि को भी देवरूपत्व है, यह भाव है ।

भगवान् यदि अपने देवरूप बाहु से गोपियों को निवारण करे तो स्वामिनीरूप लोक में कामरस प्रकट नहीं होता ।

इस प्रकार श्री विट्ठल नाथ जी टिप्पणी में मूल श्लोक तीसरे चरण के दो अर्थ कहते हैं । एक प्रत्यक्ष, और दूसरा परोक्ष ।

प्रत्यक्ष अर्थ विमान में स्थित देवों के विषय में है, और द्वितीय परोक्ष अर्थ में भगवान् की बाहु को देवरूप कहा है ।

परोक्ष अर्थ में विशेष्य की ही–देवों की ही बाहु में लक्षणा है, "वैमानिकैः' और 'कुसुमवर्षिभिः इन दोनों विशेषणों का संबंध भगवान् की बाहु के साथ नहीं है, इसलिये 'वैमानिकत्व' और कुसुमवर्षित्व, इन दोनों का बाहु में अन्वय नहीं करना चाहिये । जिस प्रकार गभीर में घोष है, यहां गभीरत्व और नदीत्व तीर में नहीं है, उसी प्रकार उक्त विशेषण भगवान की बाहु में नहीं है ।

मूल श्लोक में 'युवतिभिः' इसमें युवती शब्द यह सूचन कर रहा है कि गोपियां युवती हैं, इसलिये श्रृङ्गार रस से कौतुक इनमें प्रविष्ट है, इससे विचार न करके भगवान का चारो तरफ से एक समय में ही सिञ्चन करती हैं, अर्थात् जल के छींटे देती हैं ।

जल के छींटा देने में वीररस उत्पन्न न हो जाये, इसकि लिये प्रेम से ही भगवान् के ऊपर दृष्टिपात कर रही हैं ।

मूल में ( स्वयं ) पद कहा है, इसलिये बलात्कार से भी भगवान ने रमण किया है, इस बात का सूचन करता है ।

उस समय में भी भगवान् की रति अपने में ही थी, अर्थात् इस प्रकार रमण करने पर भी भगवान् आत्माराम ही है, किन्तु आपने केवल गजेन्द्र लीला स्वीकार की है ।

जैसे जैसे भगवान् के ऊपर गोपियाँ जल छींटती थीं, वैसे वैसे भगवान् को सुख होता था, इस बात का सूचन गजदृष्टान्त कर रहा है, और महासौरत का भी सूचन गज दृष्टान्त ही कर रहा है ॥ २४ ॥

**( सुबो० ) ततः पुष्पावचयक्रीडामाह—तत इति ।**

जल क्रीडा के अनन्तर आगे श्लोक में श्री शुकदेव जी पुष्पावचय-पुष्प एकत्रीकरण क्रीडा कहते हैं ।

**ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल–प्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ।**
**चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद्द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥**

**पदपदार्थ**—( ततः ) जल क्रीडा के अनन्तर ( जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्तटे ) जल और स्थल के पुष्पों की सुगन्ध संबंधी वायु से सेवित सर्वदिशाओं का भाग जिसमें इस प्रकार के ( कृष्णोपवने ) श्री यमुना जी के बगीचा में ( भृङ्गप्रमदागणावृतः ) भ्रमर और स्त्रियों के यूथ से चारो तरफ से व्याप्त भगवान् ( यथा ) जिस प्रकार ( मदच्युत् ) मदस्राव करने वाला ( द्विरदः ) हाथी ( करेणुभिः ) हथिनियों के साथ ( तथा ) उस प्रकार ( चचार ) विचरते हुए ॥ २५ ॥

**भाषार्थ**—जलक्रीडा के अनन्तर जल और स्थल के पुष्पों की सुगन्ध सम्बन्धी वायु से सेवित सर्वदिशाओं का भाग जिसमें इस प्रकार के श्री यमुना जी के बगीचा में भ्रमर और स्त्री

गण से आवृत चारो तरफ घिरे हुए भगवान् जिस प्रकार मदस्राव करने वाला हाथी हथिनियों के साथ विचरता है, उस प्रकार विचरते हुए ॥ २५ ॥

( सुबो० ) जलक्रीडानन्तरं कृष्णायाः यमुनायाः उपवने जलस्थलप्रसूनानां ये गन्धाः तत्सम्बन्धिना वायुना जुष्टाः दिक्तटाः सर्वदिग्भागा यस्मिन् वने तत्र पुनश्चचार । भङ्गैः प्रमदागणैश्चावृताः । पुनर्भृङ्गाणां गमने हेतुं दृष्टान्तेनाह । यथा मदच्युत् मदस्रावी गण्डयोरन्यत्र च । द्विरदो हस्ती करेणुभिः सहितो भवति, भ्रमरैश्च सहितः । सहज एवान्तः स्थितो रसः आविर्भूत इति भ्रमराणामनुद्रवणम् । चचारेति सर्वत्र नानाविधलीला निरूपिता । क्वचिल्लतानां भङ्गः, क्वचिद् वृक्षशाखानां । तथा मर्यादामार्गः लौकिकश्चान्यथाकृत इति । एषा त्रिविधा लीला अत्यलौकिकी । ततः अविचारेण रमणमिति ॥ २५ ॥

भाषा—जलक्रीडा के अनन्तर कृष्ण श्री यमुना जी के बगीचा में जल और स्थल के पुष्पों के गंध सम्बन्धी वायु से सेवित सर्वदिशाओं के तट-भाग जिसमें इस प्रकार के श्री यमुना जी के बगीचा में भगवान् पुनः भ्रमर तथा स्त्रियों के यूथ से आवृत विचरते हुए ।

जल क्रीडा करने में कुंकुम पुष्पमाला आदि का अभाव होने से भ्रमरों का साथ जाना बन नहीं सकता है, इसलिये श्री महाप्रभु जी सुबोधिनी में 'पुनश्चचार' यहां पुनः शब्द का प्रयोग किया है, भगवान् के पीछे भ्रमर फिर से गये हैं, इसमें हेतु दृष्टान्त से कहते हैं कि ( यथा-मदच्युत् ) ।

मदस्रावी—मद जिसके गण्डों में और अन्यत्र स्रवित हो रहा है, इस प्रकार का हाथी-हथिनियों सहित, और भ्रमरों सहित होता है ।

स्वाभाविक ही भीतर स्थित रस बाहर प्रकट होता है, इसलिये भ्रमरों का पीछे-पीछे जाना कहा है । इसी प्रकार भगवान् भी गोपियों से आवृत, और भ्रमरों से आवृत श्री यमुना जी के बगीचा में विचरते हुए ।

मूल में 'चचार' यह क्रिया सूचन करती है कि भगवान् ने श्री यमुना जी के बगीचा में डोलकर नाना प्रकार की लीलाएँ की हैं ।

जिस प्रकार हाथी कहीं लताओं को भङ्ग करता है, और कहीं वृक्ष शाखाओं को भङ्ग करता है, उसी प्रकार भगवान् ने भी कहीं मर्यादा मार्ग भङ्ग किया, और कहीं लौकिकमार्ग भङ्ग किया है ।

इस प्रकार यह काम लीला स्थल, जल और पुष्पावचयन पुष्पों का एकत्रित करना, इस प्रकार तीन प्रकार से भगवान् की लीला अत्यन्त अलौकिक है, अलौकिक प्रकार की है ।

लौकिक प्रकार की भगवान् की लीला का वर्णन आगे के श्लोक में 'काव्यकथा' पद से करेंगे ।

यह लीला भगवान् ने हथिनियों के साथ हाथी की तरह की है, इसलिये इस लीला में जिस प्रकार पूर्व लीला में देशकाल और नायिकाओं का विचारपूर्वक रमण किया था, उस प्रकार भगवान् ने इस लीला में देशकाल और नायिकाओं का विचार नहीं किया है ॥ २५ ॥

( सुबो० ) एवं लीलामुक्त्वोपसंहरति—एवमिति ।

इस प्रकार भगवान् की लीला वर्णन करके आगे श्लोक में शुकमुनि लीला का उपसंहार करते हैं ।

एवं शशाङ्कांशुविराजिता निशाः
ससत्यकामोऽनुरताबलागणः ।
सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः
सर्वाःशरत्काव्यकथा रसाश्रयाः ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—(एवं) इस प्रकार से (ससत्यकामः) सत्यकाम गोपियां जिसके साथ में वह सत्यकाम भगवान् (अनुरताबलागणः) अनुरत प्रीतियुक्त अबलाओं के यूथ जिसके (आत्मनि) आत्मा में (उपरुद्धसौरतः) उपरुद्ध है सौरत-सुरत वीर्य जिसके, इस प्रकार का भगवान् (शरत्काव्यकथाः) शरद् ऋतु का वर्णन करने वाली सर्वकाव्यकथा जिनमें ( रसाश्रयाः ) रसके आश्रयभूत (शशांकांशुविराजिताः) चन्द्र किरणों से शोभित (निशाः) इस प्रकार की रात्रियों का (सिषेवे) सेवन करता हुआ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार सत्यकाम गोपियां जिसके साथ में वह सत्यकाम और प्रीतियुक्त स्त्रियों के यूथ जिसके, आत्मा में ही अवरुद्ध सुरत वीर्य जिसके इस प्रकार के भगवान् शरद् ऋतु का वर्णन करने वाली सर्व काव्यकथाओं के रस के आधारभूत, और चन्द्रकिरणों से शोभित रात्रियों का सेवन करते हुए ॥ २६ ॥

( सुबो० ) शशाङ्कांशुभिः चन्द्रकिरणैः लौकिकैः या विराजिता निशाः ता एवं रेमे । पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः । स केनापि न विरुध्यते । नन्वेवं रमणे को हेतुरिति चेत्, तत्राह—ससत्यकाम इति । सत्यकामोः यासां ताः सत्यकामाः । ताभिः सहित इति ससत्यकामः । स इति तथा प्रार्थितो वा । एवमपि क्रीडायां कामः सत्य एव स्थितः, न तु क्षीणः, असद्विषयको वा जातः । अनुरता अबलागणा यस्य । सर्वथा रतासु नित्यसंबद्धासु स्वविवाहितासु न कापि शङ्का, सर्वथा प्रपन्नासु च । अग्रे मर्यादाभङ्गे रसपोषाय । तदुक्तं—'शास्त्राणां विषयस्तावद् यावद् मन्दरसा नराः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम' इति । तथापि तासु सत्य एव कामः स्थापितः । यो मोक्षपर्यवसायी । स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येव । एवं निशाः सिषेवे । तदनन्तरमात्मन्येव उपरुद्धं सौरतं यस्य तथा जातः । न तु तासु रतिं स्थापितवान् । तथा सति तासु स्वस्मात् पुत्रा भवेयुः । सर्वा एव निशा एवं नीताः । शरदपि नीता । काव्यकथा अपि नीताः । काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रतिं कृतवान् । तत्र हेतुः—रसाश्रया इति । कामरसस्तेष्वेव प्रसिद्धः । यावत् पुरुषो रसे गौणभावं न प्राप्नोति, तावन्न रसिको भवतीति । शरद्वर्णनायां वा यत् काव्यं, तत्र याः कथाः, तासां रसाश्रया इति । निशा एता न लोकप्रसिद्धाः, किन्तु काव्योक्ता

एव। तत्र हि नियतकृत्यादि राहित्यं ह्लादैकता अनन्याधीनता, तथा अन्येऽपि गुणाः। तथा भगवल्लीलारात्रयो जाता इत्यर्थः ॥ २६ ॥

लौकिक चन्द्र की किरणों से शोभित रात्रियों में भगवान् ने इस प्रकार से रमण किया है।

प्रथम एक रात्रि में रमण कहा था, अब इस श्लोक में सब रात्रियों में उस एक रात्रि का अति देश करते हैं, अर्थात् लौकिक रात्रियों में अलौकिक रात्रि का स्थापन आदि करके सर्व रात्रियों में भगवान् ने कामलीला की है।

प्रथम कहा रमण प्रकार तो सर्वदा लीला रूप है, अर्थात् प्रथम नृत्य द्वारा भीतर भाव जाग्रत होने से आन्तर रमण रूप है, इस रमण में जो भाव जिस गोपी के भीतर स्थापन किया, वह गोपी उस भाव का सदैव अनुभव करती है, इसीसे ज्ञानात्मक ताम्बूल ग्रहण करने वाली गोपी का कार्य, जिस समय भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, उस समय सर्व गोपियों को उपदेश करना वहां कहा है।

प्रथम रमण का प्रकार किसी से विरुद्ध नही है, और गृह गमन आदि प्रकार से भी विरुद्ध नहीं है, इसीसे श्री महाप्रभु जी ने छब्बीसवें अध्याय के प्रारम्भ की कारिका में कहा है कि 'स्त्रीषु रेमे ह्यहर्निशम्' भगवान् स्त्रियों में अहर्निश रमण करते हैं।

यह रमण दिन में भी विद्यमान होने से इसमें अलौकिक रात्रियों का स्थापन आदि प्रकार नहीं है।

यदि शंका करो कि इस प्रकार कामलीला से रमण करने में क्या हेतु है।

इस शंका के उत्तर में कहते है कि 'ससत्यकाम:'

सत्य है काम जिन गोपियों का वे गोपियां सत्यकामा हैं, इस प्रकार की गोपियों के सहित भगवान् है, इसलिये भगवान् 'स सत्यकाम' है, कुमारिकाओं ने 'पति मे कुरु' इस प्रकार कामप्रकारक अभिलाषा की, और श्रुति रूपाओं ने 'कामिनीभावमासाद्य' इस वाक्य से काम प्रकारक अभिलाषा की, और अन्तर्गृहगताओं का तो स्पष्ट ही कामाभिलाष है, अतः तीनों की अभिलाष सत्य होने से, उसके पूर्ण करने के लिये इस प्रकार का रमण भगवान् ने किया है।

अब 'स' और 'सत्यकाम' दोनों पद पृथक् करके महाप्रभु जी अर्थान्तर कहते हैं।

सः—जिसकी गोपियों ने इस प्रकार से प्रार्थना की है वह भगवान काम लीला करता हुआ, इस प्रकार की क्रीड़ा में भी भगवान् का काम सत्य ही स्थित है, अर्थात् भगवान् के धर्म नित्य हैं, इसलिये भगवान् का काम क्षीण नहीं हुआ, और भगवान् का काम असत् पदार्थ विषय कभी नहीं हुआ। अर्थात् भगवान् के धर्मों का नित्य सत्त्व है।

इस प्रकार व्यवस्थापित करने से विषय होने पर भी असत्-हीन पदार्थ सर्वधन नहीं हुआ।

यदि कहो कि लोक दृष्टि से परदारात्व विद्यमान है इसलिये भगवान का रमण असत्-हीनविषयकत्व कैसे नहीं है।

इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि 'अनुरताबलागण:'

प्रीतियुक्त हैं अबला जिसकी, गोपियों की भगवान् में सर्वथा प्रीति है।

गोपियों का प्रकार यह है कि ( १ ) प्रथम कुमारिका, ( २ ) द्वितीय नित्य लीलास्थ श्रुतिसिद्धा, तथा अन्तर्गृहगता (३) तृतीय द्वारका लीला में स्थित विवाहिता, और ( ४ ) चतुर्थ गोपों के घर सम्बन्धी, ये चार प्रकार की स्त्रियां भगवान में प्रीति करती हैं, इसलिये भगवान् का आत्मारामत्व भङ्ग नहीं होता है, इस प्रकार श्रीपुरुषोत्तम जी इन चार प्रकार की स्त्रियों में किसी प्रकार की दोषशंका नहीं है।

इस विषय में आचार्य श्रीवल्लभजी तो अन्य अर्थ करते हैं, वह इस प्रकार का है कि पूर्व व्याख्यान के अनुसार गोपियों के गण-यूथ तीन प्रकार के हैं, इसलिये सुबोधिनी में 'गणा:' इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया है।

इन तीनों प्रकार की गोपियों का वर्णन मूल में कहे तीन विशेषणों से क्रम से किया है, ( १ ) श्रुतिरूपा ( २ ) अन्तर्गृहगता ( ३ ) कुमारिका ये तीनों प्रकार की गोपियां भगवान् में प्रीति करती हैं।

यद्यपि लोकन्याय से कुमारिकाओं के साथ भगवान् का विवाह नहीं हुआ, किन्तु 'पति मे कुरु' मेरा पति नन्दगोपसुत करो, इस प्रकार प्रार्थना करने से वर सिद्ध विवाह हुआ है, इसलिये मूल में 'स्वविवाहिता सु' इसमें 'स्व' पद का प्रयोग किया है, इसका आशय यह है कि भगवान् ने कुमारिकाओं के साथ विवाह किया है, लोक के सामने नहीं किया है।

इस प्रकार की गोपियों के साथ मनोरथ पूर्ण करने के लिये रमण करने में दोष शंका नहीं है।

अब प्रसङ्ग से श्री महाप्रभुजी साधारण पक्ष भी कहते है कि जो गोपी सर्वथा भगवान् की शरण प्राप्त हुई हैं उनमें भी दोष शंका करने का अवकाश नहीं है, जो शरण में आई गोपियां हैं, उनमें अनुरतत्व–प्रीति साधारण है।

यदि आप कहो कि जिन गोपियों में प्रीति साधारण है, उनके साथ भगवान् को फिर उतना ही रमण करना उचित है, किन्तु मर्यादा-रहित रमण करना उचित नहीं है।

इस शंका के उत्तर में श्रीमहाप्रभु जी कहते हैं कि भगवान् ने रमण करने में मर्यादा भंग आगे रस-पोषण करने के लिये की है।

यदि भगवान् मर्यादा-भंग किये बिना रमण करे तो रस का पोषण नहीं होने से उतना रस भी सिद्ध नहीं होता, अतः रस सिद्ध करने के लिये भगवान् ने मर्यादा भंग की है।

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि प्रथम जो गोपी कुमारिका आदि चार प्रकार की कही हैं, उनसे अन्य गोपियां यद्यपि स्पष्ट नहीं कही हैं, तथापि 'भिन्न सेतुः' मूल में कहा है, इससे 'निबन्ध' में कही रीति के अनुसार जाननी चाहिये, इसी बात को प्रथम श्लोक में श्री आचार्यों ने कहा है कि मर्यादा मार्ग, तथा लौकिक भगवान् ने अन्यथा भंग कर दिया है, इसी बात को लक्ष्य करके श्री आचार्यों ने सुबोधिनी में 'अग्रे' यहां से लेकर 'प्रापयिष्यत्येव' यहां तक कहा है, अर्थात् आगे रस पोषण करने के लिये भगवान् ने मर्यादा भंग की है। इसी को वात्स्यायन सूत्र में कहा है कि—

"शास्त्राणां विषयस्तावद् यावन्मन्दरसा नराः।
रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रमः ।। २।२।३२

जब तक पुरुष में मन्द रस होता है, तबतक शास्त्रों का विषय—अर्थात् शास्त्रानुसार रति करता है, किन्तु जब मनुष्य रति चक्र में प्रवृत्त हो जाता है। तब न तो शास्त्र विषय रहता है, और न क्रम ही रहता।

इस प्रकार मर्यादा भंग करके रमण करने पर भी भगवान् ने गोपियों में सत्य ही काम स्थापन किया है। यहीं सत्य काम मोक्ष–नित्य लीला में प्रवेश करायेगा।

अर्थात् यह सत्यकाम गोपियों को भगवान् की प्राप्ति ही करायेगा।

श्री मदाचार्यों ने तृतीयाध्याय सूत्र के भाष्य में नित्य लीला प्रवेश रूप पुष्टिमार्गीयों की मुक्ति निरूपण की है।

इस प्रकार भगवान् ने रात्रियों का सेवन किया, इसके अनन्तर भगवान् ने अपने ही में सौरत–रति वीर्य स्थापन किया, किन्तु गोपियों में रति वीर्य स्थापन नहीं किया, रमण करने में सहस्रवण हुआ तो भी भगवान् ने चन्दकिरणों को अपने ही में स्थापन किया है, गोपियों में स्थापन नहीं किया है।

जिस प्रकार पात्र में धरा घृत पतला हो जाये तो भी पात्र ही में रहता है, उसी प्रकार रति-वीर्य भगवान ने अपने ही में स्थित रखा, अर्थात् चन्द्रकिरणों का स्राव हुआ तो भी ये चन्द्र-किरणें भगवान् में ही रहीं।

यदि भगवान् गोपियों में रतिस्थापन करते तो गोपियों में भगवान् से पुत्र उत्पन्न होते।

यद्यपि गोपियों को पुत्रोत्पादन भी भगवान से ही किसी प्रकार से हुआ है, तथापि इस समय भगवान् को रति स्थापन करने में अपने से ही प्रकट स्वरूप होते। इसलिये रति स्थापन नहीं किया।

सभी रात्रियाँ भगवान ने इस प्रकार रमण में व्यतीत कीं, काव्यों में कहे प्रकार से तथा जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' नाम काव्य में कहे न्याय से भी भगवान ने रमण किया है।

गीतगोविन्द में कहे लौकिक प्रकार के रमण करने में हेतु कहते हैं कि 'रसाश्रया:' कामरस काव्यों में ही रात्रि आदि की कथा के अन्त में ही प्रसिद्ध है, जबतक पुरुष नायिका को प्राधान्य करके स्वयं गौण भाव को प्राप्त नहीं होता है, तबतक रसिक नहीं होता।

अब श्रीमहाप्रभु शरद् आदि का दूसरा अर्थ करते हैं, अथवा शरद् का वर्णन करने में जो काव्य है, उसमें जो कथाएँ उनके रस की आश्रय रात्रियां है, इस प्रकार की रात्रियां लोक में प्रसिद्ध नहीं हैं, किन्तु काव्य में ही कही हैं, 'मम्मट' आचार्य ने 'काव्यप्रकाश में इस प्रकार ही कहा है, ब्रह्माजी ने जो नियम कार्य आदि जगत् में बनाये हैं काव्य उनसे रहित भी है, अर्थात् वे नियम आदि काव्य में नहीं हैं, काव्य में केवल आनन्द ही होता है, और यह अन्य के आधार ऊपर नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु अन्य गुण भी काव्य शास्त्र में होते हैं। उसी प्रकार भगवल्लीला की रात्रियां हुईं।

लौकिक काव्यों में भी सरस्वती भगवान के सम्बन्ध वाले पदार्थों का वर्णन करती है, किन्तु लौकिक पुरुष ही काव्यों का अर्थ भिन्न भिन्न संसारी जीवों में घटाते हैं, इसी से प्राचीन महानुभाव लौकिक गाथाओं में भी जीव नाम दूर करके वहां भगवान् का नाम रखकर गान कराते हैं ॥ २६ ॥

अब इस २६ वें श्लोक पर स्वतन्त्र लेख है, उसका भाषानुवाद कहते हैं, मूल में 'ता एवं रेमे' भगवान लौकिकी रात्रियों में इस प्रकार कामलीला से चन्द्रप्रवेश क्रीडा से, चन्द्र अंश निवर्तन प्रकार द्वारा रमण करते हुए मूल में 'पूर्वोक्त प्रकारस्तु' नृत्य आदि से केवल रसात्मक गूढ़ भाव प्रकट करने से सर्वदा लीला रूप है।

मूल में 'स केनापि न विरुध्यते' भावात्मक रमण तो किसी से भी गृहगमन आदि से भी विरुद्ध नहीं है। कारण कि भावात्मक रमण का सर्वदा हृदयगृह में परोक्ष में भी अनुभव होता है। नाट्य में रस के उत्पन्न भाव से ही सर्व का अनुभव सम्पन्न होता है, इसीसे 'आन्तरं तु महाफलम्' इस २६ वीं अध्याय कारिका ५ की टिप्पणी में प्रभुचरण ने कहा है कि जो भाव विशेष भीतर उत्पन्न होते हैं, वे समागम में नहीं होते हैं।

मूल में 'ननु एवं रमणे को हेतुः' यदि कहो कि नित्य लीला के आश्रयभूत स्वामिनियों में कामलीला से रमण क्यों किया ? यह अर्थ है।

मूल में 'ससत्यकाम:' सत्य है काम गोपियों का अथवा यस्य, भगवान् का, इस प्रकार बहुव्रीहि समास से गोपियों में तथा भगवान् में सत्यकाम के सत्त्व से इस प्रकार रमण करने पर भी

नित्य लीला में कोई क्षति नहीं है। यह भी लीला भगवान् की नित्य ही है, केवल इतना विशेष है कि यहां बाहर प्राकट्यपूर्वक उसी प्रकार की क्रिया प्रकट की है, और आन्तर रमण में भाव मात्र से प्रकट है।

अब कामलीला से रमण में हेतु को दूसरे प्रकार से कहते हैं।

'स तथा प्रार्थितो वा' 'पतिं मे कुरु' इत्यादि से प्रथम गोपियों ने कामलीला का अनुभव करने के लिये भगवान् की प्रार्थना की थी, तथा कामिनीभावमासाद्य' इस वाक्यानुसार श्रुति-रूपाओं ने भी की थी, इसी से 'लब्धकामा: कुमारिका;' 'एवं भगवत: कृष्णाल्लब्धकामा:' इत्यादि वाक्य कहे हैं। अत: भगवान को कुमारिका तथा श्रुतिरूपाओं की प्रार्थना ही कामलीला करने में हेतु है।

मूल में ( एवमपि क्रीडायाम् ) चंद्रकिरणनिवर्तन प्रकार से क्रीडा में, यह अर्थ है, ( मूल में 'सत्यएव' निवृत्त चद्रांशों की भी भगवान् में स्थिति होने से, यह भाव है ) इसीसे आगे कहेंगे 'आत्मन्यवरुद्धसौरत:' सत्य को ही कहते हैं कि 'न तु क्षीण:, असद्विषयको वा जात:' भगवान की क्रीडा में काम सत्य ही स्थित है, क्षीण नहीं है, क्षय होने पर सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है, संसार की तरह ही सिद्ध होता है, प्रकृत विषय में काम का द्रवण होने पर चंद्रांशकिरण निवृत्त होने पर भी भगवान के भीतर ही स्थिति से क्षीण नहीं है, जिस प्रकार एक पात्र में स्थित नवनीत घाम आदि से पतला होकर उसी पात्र में रहने पर क्षीण नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार यहां भी रतिवीर्य द्रवीभूत होने पर भी भगवान् में स्थित रहने से क्षीण नहीं है, यह भाव है।

यदि कहो कि यहां स्वाभाविक सुख के लिये साथ में स्रवण कहना चाहिये। साथ में श्रवण कहने पर ही अन्यत्र भी उसका सम्बन्ध आवश्यक है, फिर यहाँ अक्षीणत्व पूर्वक ही रीति से कैसे कहते हो। इस प्रकार अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं कि 'असद्विषयको वा जात:' स्वामिनियों में भगवान का रतिवीर्य प्रविष्ट होने पर भी लौकिक काम की तरह यह असद्विषयक नहीं हुआ, कारण कि वहाँ भी भगवान के काम का ही सत्त्व है, भगवत्काम पूर्ण करने पर उसको सद्विषयकत्व ही है, इसी से आचार्य चरणों ने 'तासां कामस्य संपूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा' कहा है, और भगवान् ने भी आज्ञा की है कि 'न मय्यावेशितधियाम्' इत्यादि। इसलिये इस प्रकार रमण करने पर भी भगवान् से पुत्रादि की उत्पत्ति नहीं हुई, इसी बात को प्रथम आचार्यों ने ( कामाभावेन पूर्णस्तु ) इत्यादि से कहा है।

अब और भी कहते हैं कि गोपियों में लौकिक काम होने पर भी कोई क्षति नहीं है, गोपियां सर्वथा भगवत्पर हैं, इसलिये उनका कामबीज दग्ध हो गया, इस अभिप्राय से विशेषण का अर्थ कहते हैं कि ( अनुरता अबलागणा यस्य )

यहां तीन गण हैं श्रुतिरूपाओं का, अन्तर्गृहगताओं का, और कुमारिकाओं का, ये तीनों ही यूथ भगवान् में सर्वथा प्रपन्न हैं, तीनों में शरण धर्म तुल्य है, प्रपन्न-शरणधर्म सर्व भाव से शरण आने को कहते हैं।

पूर्वोक्त सभी गोपियों की भगवान् में प्रीति है, उसमें श्रुतिरूपाओं के गण में अनुरतत्व भगवान के रतत्व के अनन्तर रतत्व है, इसी से 'त्वयाभिरमिता' यह कहा है और अन्तर्गृहगताओं के गण में अनुरतत्व लक्ष्मी की तरह नित्य संबद्धत्व ही है, कुमारिकाओं के गण में पूर्वधर्म का सत्त्व होने पर भी, हमारे ही है, इस प्रकार स्वयं अनुरतत्व है, भगवान् ने विवाह करके सम्बन्ध किया है, इस प्रकार सभी गोपियां सर्वभाव से भगवत्पर हैं। इसलिये लौकिक काम का सत्त्व होने पर भी कोई शंका नहीं है, यह भाव है।

यदि कहो कि इस प्रकार कामलीला करने के अनन्तर 'इभराडिव भिन्नसेतुः' इस प्रकार का गजदृष्टान्त कथन से मर्यादाभंग करना भगवान को उचित नहीं है, और शास्त्र में कहीं देश काल की मर्यादाभंग करने पर कामरस का उस प्रकार का अनुभव नहीं होता है, और यहां तो मर्यादाभंग गजदृष्टान्त से, गज की तरह स्पर्श से स्वामिनियों के कामनिवर्तन से कहा है, काम निवृत्त हो जाता है, तब काम शास्त्र में कही देश काल मर्यादा नहीं रहती है, देशकाल मर्यादा के अभाव में आगे उस प्रकार के रमण का भी संभव नहीं होता है, फिर निवृत्तकाम वाली गोपियों का उस देश में उतने काल तक प्रभु के साथ रहना भी संभव नहीं हो सकता है।

इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'अग्रे मर्यादाभंगो रसपोषाय' आगे जो मर्यादा का भगवान् ने भंग किया है, वह रसपोषण करने के लिये ही किया है, कामलीला में ही आगे मर्यादा-भंग-अर्थात् काम मर्यादा का भंग रसपोषण करने के लिये ही है। सर्वथा कामनिवृत्ति के लिये नहीं है, कारण कि मर्यादा रहित भोग रसपोषक होता है, इसी बात को 'तदुक्तं, शास्त्राणां विषयः' इत्यादि से कहा है। नहीं तो काम निवृत्त होने पर इस लीला को नित्यत्व नहीं होगा।

यद्यपि इस प्रकार शंका का समाधान हो सकता है, तथापि स्वामिनियों में भगवान ने लौकिक काम स्थापित नहीं किया है, कारण की लौकिक काम स्थापन करने पर संयोग रस का भंग हो जाता है।

भगवान को देय तो आत्यन्तिक वियोग है, उसमें कामंगूढ स्थायीभाव है, इसी से मोक्ष-पर्यवसायी है, कारण कि काम नित्यसुख के अनुभव में हेतु है, अनन्तर स्वरूपमात्र की प्राप्ति है। इसी से कहा है कि 'ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम्' फल भी इसी से कहा है कि इस लीला का श्रवण जो कोई करेगा, उसके लौकिक काम की निवृत्ति होगी।

गोपियों में सत्य ही काम भगवान ने स्थापन किया, इस प्रकार जो आचार्यों ने कहा है, वह अत्यन्त रमणीय है, इसलिये कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥२६॥

( सुबो० ) एवमेतां लीलां श्रुत्वा राज्ञः सन्देह उत्पन्नः। तन्निवारणार्थं शङ्कते-संस्थापनायेति त्रिभिः।

इस प्रकार इस लीला को सुनकर राजा परीक्षित् को सन्देह उत्पन्न हो गया, सन्देह दूर करने के लिये तीन श्लोकों में राजा शंका करता है, तथा किसी भ्रान्त पुरुष को भगवान् की इस लीला में विषयत्व से अनुचित बुद्धि होने के कारण शंका उत्पन्न हो तो शंका निवारण करने के लिये राजा की शंका, और शुकदेव जी का किया समाधान सुनने से अन्य की बुद्धि का भी निवारण श्री शुकदेव जी करते हैं।

**राजोवाच—**

**संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।**
**अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥ २७ ॥**

**पदपदार्थ**—( धर्मस्य ) धर्म का ( संस्थापनाय ) सम्यक् प्रकार से स्थापन करने के लिये ( च ) और ( इतरस्य ) अधर्म का ( प्रशमाय ) नाश करने के लिये ( जगदीश्वरः ) जगत् के ईश्वर ( भगवान् ) षडैश्वर्यवान श्रीकृष्ण ( अंशेन ) बलदेवसहित ( अवतीर्णः ) अवतरित हुए हैं ॥ २७ ॥

---

**भाषार्थ**—राजा बोला, धर्म का सम्यक् प्रकार से स्थापन करने के लिये और अधर्म का नाश करने के लिये जगत् के ईश्वर भगवान् ने बलदेव सहित अवतार लिया है ॥ २७ ॥

( सुबो० ) अवतारविरुद्धं लोकवेदविरुद्धं प्रमेयविरुद्धं चेति। तादृशकरणे अवश्यं हेतुर्वक्तव्यः। तदभावेऽपि लीलायाः सिद्धत्वात्। तत्र प्रथममवतारविरोध-माह। धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारः। 'धर्मसंस्थापनाय चे'ति वाक्यात्। अधर्मनिवृत्तये च। तदुभयार्थमेव भगवदवतारः, दैत्यादिवधो भूभारहरणं च अधर्मनिवृत्तये। एतदर्थमेवावतारः, नान्यार्थमिति हिशब्द आह। भगवानिति तस्य साधनम्, अन्यथा पूर्णकामस्यावतारो न घटेतेति। लोकोपकारश्च एताभ्यामेव अंशेन बलभद्रेण। आगत्य तथाकरणे हेतुः जगदीश्वर इति स हि सर्वरक्षकः। अतः पालनार्थमेवं कृतवान् ॥ २७ ॥

राजा परीक्षित् प्रश्न करता है कि भगवान् की लीला अवतार से विरुद्ध है, लोक वेद से विरुद्ध है, और प्रमेय से विरुद्ध है, इस प्रकार विरुद्ध लीला करने में हेतु अवश्य आपको कहना चाहिये, कारण कि भगवान् इस प्रकार से लीला करते तो भी भगवान् की लीला तो सिद्ध थी, उक्त तीनों प्रकार की विरुद्ध लीला में प्रथम राजा परीक्षित अवतार विरुद्ध लीला कहता है कि भगवान का अवतार धर्म संस्थापन करने के लिये हुआ है, धर्म 'संस्थापनाय च' इसमें धर्म संस्थापन करने के लिये युग युग में अवतार लेता हूं, इस प्रकार गीता में भगवान ने स्वयं कहा है। और अधर्म नाश करने के लिये अवतार लेता हूं अर्थात् धर्मसंस्थापन और अधर्मनिवृत्ति, इन दोनों प्रयोजन से भगवान का अवतार होता है।

यदि कहो कि दैत्यनाश, और पृथिवी का भार दूर करना भी अवतार कार्य है, उसी तरह इस प्रकार की लीला भी अवतारकार्य मान लो।

इस शंका को समाधान करते हैं कि दैत्यनाश और भूभार हरण ये दोनों कार्य तो अधर्म निवृत्त करने के लिये हैं, इस कार्य को करने के लिये ही भगवान का अन्य कार्य करने के लिये भगवान का अवतार नहीं है, बात का सूचन मूल का 'हि' शब्द कर रहा है।

भगवल्लीला अधर्म का नाश करने में उपयोगी नहीं है, अतः अधर्मनाश के लिए नहीं है, इसलिये भगवल्लीला अवतार का गौण कार्य भी नहीं है।

आप 'भगवान' हैं, ऐश्वर्य आदि छै भगवान के गुण हैं, और धर्म भगशब्द वाच्य जो ऐश्वर्यादि गुण हैं, वे उनके भीतर हैं, इसलिये धर्मरक्षण आवश्यकता से रक्षण साधन भगवत्त्व है, अर्थात् धर्मरक्षा का साधन भगवान है, इस प्रकार प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी कहते हैं।

इस विषय में आचार्य वल्लभ जी कहते हैं कि ( तस्य साधनम् ) भगवान के गुण ही लीला में साधन है, 'अन्यथा' यदि भगवान के गुण लीला में साधन नहीं हो तो पूर्णकाम भगवान का अवतार ही नहीं घट सकता है, और लोक का मोक्षरूप आदि उपकार तो धर्मसंस्थापन और अधर्मनाश इन दोनों से होता है।

'अंशेन' बलभद्र के साथ, भगवान अवतार लेकर जगत में आकर धर्मसंस्थापन, और अधर्मनाश करता है, इसमें हेतु कहते हैं कि ( जगदीश्वरः ) भगवान सबकी रक्षा करने वाले हैं, इसलिये पालन करने के लिये अवतार लेकर धर्मसंस्थापन, और अधर्मनाश करते हैं ॥ २७ ॥

( सुबो० ) किमतो यद्येवम्, एवमेतदित्याह—स कथमिति ।

शुकदेव जी कहते हैं कि यदि भगवान धर्मरक्षा और, अधर्मनाश करने को ही अवतार लेते हैं, इससे आपका कहने का क्या मतलब है । तब इसके उत्तर में राजा परीक्षित कहता है कि मेरा कहने का आशय इस प्रकार है सुनिये कहता हूं ।

**स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताऽभिरक्षिता ।**
**प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ॥ २८ ॥**

**पदपदार्थ**— ( हे ब्रह्मन् ) हे ब्रह्मरूप ( धर्मसेतूनां ) धर्म की मर्यादाओं का ( कर्ता ) करनेवाला ( वक्ता ) कहनेवाला ( अभिरक्षिता ) सर्व प्रकार से रक्षा करने वाला ( सः ) भगवान 'परदाराभिमर्शनम्' पर स्त्रियों के साथ सङ्गरूप [ प्रतीपम् ] धर्मविरुद्ध कार्य को ( कथं ) क्यों ( आचरत् ) आचरण किये ॥ २८ ॥

**भाषार्थ**—हे ब्रह्मन् धर्म की मर्यादा रक्षा करने वालों का भी रचने वाला और स्वयं कहने वाला, सर्व प्रकार से रक्षा करने वाला भगवान परस्त्रियों के साथ सङ्गरूप धर्मविरुद्ध कार्य क्यों किये ? ॥ २८ ॥

( सुबो० ) धर्ममर्यादापालकानां निर्माता । स्वयं वक्ता च । उपघातेऽभिरक्षिता च । तादृशः प्रतीपं प्रतिकूलमाचरत् । धर्मो नष्टः, अधर्मः स्थापितः । अधर्मः कृत उक्तः रक्षितश्च । अतः प्रतीपाचरणमयुक्तम् । तत्र हेतुर्वक्तव्य इति ब्रह्मन्निति सम्बोधनम् । ये पञ्च पदार्था उक्ताः, तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निर्दिशति परदाराभिमर्शनमिति ॥ २८ ॥

भगवान धर्ममर्यादा रक्षा करने वाले मनु आदि ऋषियों के रचने वाले हैं, मनु आदि के द्वारा मर्यादा का पालन करते हैं ।

और स्वयं धर्म का उपदेश करने वाले हैं, धर्म का नाश होने पर, उसकी सर्व प्रकार से रक्षा करने वाले हैं, इस प्रकार के भगवान ने धर्मविरुद्ध आचरण किया है, धर्म नष्ट किया, २. अधर्म स्थापन किया, ३. अधर्म किया ४. अधर्म कहा ५. और अधर्म की रक्षा की है ।

इसलिये भगवान को इस प्रकार धर्मविरुद्ध आचरण करना योग्य नहीं है, इसमें आप को कारण कहना चाहिये कि इस प्रकार का धर्मविरुद्ध आचरण भगवान ने क्यों किया ।

उक्त कार्य करने का कारण आप जानते हैं, इस बात को सूचन करने के लिये राजा ने श्री शुकदेव जी को 'ब्रह्मन्' संबोधन कहा है ।

धर्म का नाश, अधर्म स्थापन, अधर्म का आचरण, अधर्म का उपदेश, अधर्म का रक्षण, ये पांचो पदार्थों का स्वरूप एक स्थान में ही है, श्री शुकदेव उस स्थान को बतलाते हैं कि 'परदाराभिमर्शनम्' उक्त पांचो पदार्थ परस्त्रीसङ्ग में हैं ।

यहाँ मूल में 'संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च' धर्मस्थापन और अधर्मनाश करने के लिए भगवानका अवतार कहकर 'प्रतीपमाचरत्' इससे धर्म नष्ट, अधर्मस्थापन, दो पदार्थ कहे हैं, और 'वक्ता कर्ताभिरक्षिता' इसको कहकर 'प्रतीपमाचरद्' इससे अधर्म किया, अधर्म कहा, और अधर्म रक्षण किया, ये तीन पदार्थ कहे हैं, इस प्रकार पांच पदार्थ प्रतीप के अर्थनिरूपण किये हैं ॥ २८ ॥

( सुबो० ) ननु कामात् करणमिति चेत्, तत्राह— आप्तकाम इति ।

यदि आप कहो कि भगवान ने काम से इस प्रकार प्रतिकूल आचरण किया है, तब इसके उत्तर में राजा परीक्षित कहता है ।

**आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।**
**किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥ २९ ॥**

**पदपदार्थ**—(आप्तकामः) स्वतः ही प्राप्तकाम ( यदुपतिः ) यादवों के पति भगवान् ( जुगुप्सितम् ) परस्त्रीसंग रूप लोक निन्दित कार्य को ( कृतवान् ) किये (किमभिप्रायः ) इसमें क्या अभिप्राय है (एतं) पूर्वोक्त (नः) हमारा सबका ही (संशयं) संदेह को (हे सुव्रत) हे सदाचार लक्षण व्रतयुक्त ( छिन्धि ) दूर करो ॥ २९ ॥

**भाषार्थ**—आप्तकाम यदुपति भगवान् लोकनिन्दित कार्य किये, इसमें क्या अभिप्राय है, हे सुव्रत सदाचारी शुकदेव जी, हमारा सबका संशय दूर करो ॥ २९ ॥

(सुबो०) स्वत एवाप्ताः कामा येन । यदुपतिरिति विद्यमानायामपि कामनायामनेकस्त्रीप्राप्तिः तादृशोऽपि भूत्वा जुगुप्सितं लोकनिन्दितं कृतवान् । तत्र नैकतापि करणे कोऽभिप्रायः । परस्परविरुद्धार्थत्वादुभयोर्ग्रहणं न सम्भवति । नैतत् कर्म लोकविरुद्धानाम् । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजनं वक्तव्यम् । लोकस्य मर्यादैव हितकारिणी । तथा हितम्, नापि स्वहितम् । स्वस्य पूर्णत्वात् । अत एवं सति गोपिकानामपि । अन्तर्यामिण ईश्वरस्य न किञ्चिदसाध्यम् । एतं नोऽस्माकं सर्वेषामेव किमभिप्राय एतत् कृतवान् । कः अभिप्रायो यस्येति । यदीदमसङ्गतमिव संशयं छिन्धि । किञ्च, सुव्रत हे सदाचारलक्षणव्रतयुक्त । स्यात्, त्वया नोक्तं स्यात् । यदि वा अधर्मः स्यात्, तव रुचिर्न स्यात् । प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ २९ ॥

स्वतः ही आप्त प्राप्त काम जिस करके, अर्थात् भगवान् ने अपने आप ही सर्व काम प्राप्त किये हैं, भगवान् को किसी काम की आवश्यकता नहीं है, आप स्वयं आप्तकाम हैं और यदुपति हैं, यादवों के पति हैं, इसलिये यदि भगवान् को कामना हो, तो भी इसको अनेक स्त्रियां प्राप्त हो सकती हैं ।

भगवान् इस प्रकार के होकर भी लोक में जिस कार्य से निन्दा हो उस परस्त्रीसंग रूप कार्य को किये, इस प्रकार करने में भगवान् का क्या अभिप्राय है, कारण कि परस्पर विरुद्ध अर्थ है, परस्पर विरुद्ध धर्म अधर्म दोनों का ग्रहण सम्भव नहीं होता है । विरुद्ध पदार्थ एक स्थान में रह नहीं सकते हैं ।

यदि कहोकि 'द्वयं तथा ब्रह्मणि कर्म नर्छति' इस न्याय से दोनों के ग्रहण में क्या दोष है । इसके उत्तर में कहते हैं कि, भगवान् विरुद्ध सर्व धर्मों के आश्रय हैं, तो भी इस प्रकार का धर्मविरुद्ध कार्य करने का आपको प्रयोजन कहना चाहिये ।

परस्त्री-संग कार्य लोक का हित करने वाला नहीं है, और अपना भी हित करने वाला नहीं है । कारण कि भगवान् स्वयं पूर्ण हैं ।

लोक को मर्यादा का आचरण ही हित करने वाला है। इसी प्रकार गोपियों को भी मर्यादा हित करने वाली है।

यदि कहो कि गोपियों का काम पूर्ण करना ही भगवान् की लीला का प्रयोजन है, कारण कि गोपियां भगवान् की भक्त हैं, इसलिये गोपियों के मनोरथ की पूर्ति करना आवश्यक है।

इसके उत्तर में राजा कहता है कि ईश्वर अन्तर्यामी है, इसलिये इसको कोई भी कार्य असाध्य नहीं है. इनका मनोरथ भीतर ही पूर्ण कर देते, अथवा अन्तर्यामी होने के कारण गोपियों को अन्य प्रकार से ही प्रेरणा करके दूसरा मनोरथ ही उत्पन्न क्यों नहीं किया। अथवा गोपियों को इस प्रकार प्रेरणा करते कि जिससे गोपियों में इस प्रकार का निंदितभाव उत्पन्न ही नहीं होता, अथवा गोपियों के साथ विवाह कर लेते। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में किस अभिप्राय से भगवान् ने यह लीला की है।

आचार्य इस शंका का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं। अथवा, लीला असाध्य नहीं है, भगवान् ने इस प्रकार की लीला नहीं की, इस बात को मान लो तो इसके उत्तर में राजा कहता है कि इसमें दृष्टान्त के लिये दो विशेषण हैं, जिस प्रकार अन्तर्यामी होकर ईश्वर बाहर भी फलदाता है, उसी प्रकार यह विरुद्ध लीला भी असाध्य नहीं है। तथापि इस लीला करने का अभिप्राय क्या है।

राजा परीक्षित को पहिले संदेह नहीं था, किन्तु अभिप्राय संबंधी संदेह तो स्थित है ही, इसलिये राजा प्रश्न कर रहा है।

'कः अभिप्रायो यस्य' कौन सा अभिप्राय है जिसका, इस लीला करने में भगवान का कौन सा अभिप्राय है। इस प्रकार हमारा सबका ही संशय दूर करो।

'हे सुव्रत' हे सदाचारलक्षण व्रतयुक्त श्री शुकदेव जी।

यदि भगवान् की यह लीला असङ्गत सी-सङ्गत सी नहीं होती, तो आप इस लीला का वर्णन नहीं करते, और यदि भगवान् की इस लीला में अधर्म होता, तो आपकी इसमें रुचि नहीं होती, किन्तु विपरीत प्रकार की दीखती है, इसलिये आपको इस लीला करने का निर्णय कहना चाहिये, यह अर्थ है। भगवान् की इस लीला में दो प्रकार की शंका है, प्रथम भगवान् की लीला निंदित है, द्वितीय अभिप्राय शङ्का है, इसमें प्रथम शंका दूसरों की है, और दूसरी स्वयं राजा परीक्षित की है, दूसरी शंका का समाधान 'अनुग्रहाय भक्तानां' इस ३७वें श्लोक में करेंगे ॥ २९ ॥

( सुबो० ) प्रथमतः अवतारविरुद्धं कृतवानिति यदुक्तम्, तत्रोत्तरमाह—धर्मव्यतिक्रम इति।

प्रथम राजा ने कहा कि भगवान् ने अवतारविरुद्ध कार्य किया है, इसका उत्तर श्री शुकदेव जी देते हैं।

## श्रीशुक उवाच—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥ ३० ॥

पदपदार्थ—( धर्मव्यतिक्रमः ) धर्म का उल्लंघन (च) और (साहसम्) साहस (ईश्वराणां) ऐश्वर्य धर्म वालों में ( दृष्टः ) देखा गया है ( यथा ) जिस प्रकार ( वह्नेः ) अग्नि ( सर्वभुजः ) सर्व भक्षण करने वाले को ( दोषाय ) सर्वभक्षण दोष के लिये (न) नहीं है (तथा) उसी प्रकार ( तेजीयसां ) अतितेजस्वियों को विरुद्ध कार्य दोष के लिये नहीं है ॥ ३० ॥

भावार्थ—श्री शुकदेव जी कहते हैं कि धर्मका उल्लंघन, और साहस ईश्वर-ऐश्वर्य धर्म वालों में देखा गया है, जिस प्रकार अग्नि सर्वभक्षण करता है, किन्तु अग्नि को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है, उसी प्रकार अति तेजस्वी पुरुषों को विरुद्धाचरण करने से दोष उत्पन्न नहीं होता है ॥ ३० ॥

( सुबो० ) किमेतदीश्वराणां चरित्रं न भवतीत्युच्यते। आहोस्विदन्यार्थमागतोऽन्यत् करोतीति। नहि किञ्चिद् घटनार्थमागतः किञ्चिन्न विघटयति। न ह्यन्यार्थमप्यागतः स्वधर्मं परित्यजति। प्रकाशनार्थमागतो दीपः गृहेण स्पृष्टश्चेद् दहत्येव। अत ईश्वरधर्मोऽयम्। अन्यथा ईश्वर एव न भवेत्। न हि वणिजामिव प्रभोर्नियमोऽस्ति सर्वकर्मसु। ईश्वरधर्माश्चैते इति तान् गणयति धर्मव्यतिक्रमः साहसमित्यादयः। धर्मव्यतिक्रमो विद्यमानोल्लङ्घनम्। साहसमविद्यमानकरणम्। एतदुभयमीश्वरे दृष्टम्। 'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'। चकारादीश्वर सेवकानामपि, वीर्यादिमतां वा। एतदेव वा साहसम्, सहसा क्रियमाणत्वात्। नन्वेवं सति तत्कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याह—तेजीयसामिति। अतितेजस्विनामेतन्नाधर्मजनकम्। विधिनिषेधवाक्यानां नियोज्यविषयत्वात्। यथा लोके, तथा वेदेऽपि। अतितेजस्विनां सर्वकर्मदहनसमर्थानां न दोषजनकं भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह वह्नेः सर्वभुज इति। न हि सर्वान् दहन् वह्निर्बंधभाग् भवति। सर्वं भक्षयन् अभक्ष्यभक्षको वा। तथा सर्वं पिबन् सर्वत्र प्रविशन् सर्वसम्बद्धः तत्तत्कारी भवति। मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामेवात्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, नतु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायाम्॥३०॥

राजा परीक्षित से श्रीशुकदेव जी कहते हैं कि क्या यह ईश्वरों का चरित्र नहीं होता है, जो आप इस प्रकार कहते हैं।

अथवा आपसे यह पूछते हैं कि भगवान् अन्यकार्य करने के लिये अर्थात् धर्मशिक्षण अधर्म नाश करने के लिये पधारे हैं, और 'अन्यत्' अन्यकार्य अधर्म किया है, इस प्रकार प्रश्नकी दो कोटि की हैं, उसमें प्रथम द्वितीय का उत्तर देते हैं, कि किसी एक कार्य करने के लिये आया हुआ, दूसरे कार्य का नाश नहीं करता है, और अन्य अर्थ दूसरे प्रयोजन के लिये आया हुआ भी स्वधर्म का त्याग नहीं करता है।

जिस प्रकार मृगया–शिकार खेलने के लिये निकला राजा उपवन में विहार करता है, और वह विहार करता हुआ भी सेवक आदि का शासन भी करता है, शिकार भी खेलता है, उसी प्रकार अन्य प्रयोजन के लिये पधारे भगवान् धर्म का परित्याग नहीं करते हैं।

यदि कहो कि गोपियों को तो अधर्म करने से बंध संभव होता है, तब इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रकाशनार्थम्'।

प्रकाश करने के लिये आया दीपक यदि घर से उसका स्पर्श हो जाये तो घर को फूंक ही देता है, अपने स्वरूप का योजन करके घर को अपने सदृश कर देता है।

उसी प्रकार भगवान् धर्म का स्थापन करने के लिये पधारे हैं, किन्तु जो भगवान् का प्रेमभाव से भजन करे तो भगवान् उसमें स्वरूपानन्द स्थापन करते हैं, और अपने तुल्य बना लेते हैं ।

'नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप' हे राजन्, मनुष्यों के कल्याण करने के लिये भगवान् का प्राकट्य है, इस प्रकार इस श्लोक में पहिले भगवान के अवतार का कार्य कहा है, अवतार कार्य भगवान की लीला भी हो सकती है, अभी पहले कह आये हैं कि मोक्षपर्यंवसायी है नित्यलीला प्राप्त कराने वाली भगवान की यह लीला है, अतः धर्मस्थापन, अधर्मनाश भी इस लीला का प्रयोजन है. इसलिये प्रकारान्तर से सिद्ध होने पर धर्मस्थापन, और अधर्मनाश दोनों की आवश्यकता रहती नहीं है । अतः भगवान की यह लीला अवतार विरुद्ध नहीं है ।

अब पहिले राजा ने भगवान की लीला लोकविरुद्ध और प्रमेयविरुद्ध है, इस प्रकार प्रश्न किया है, उसका विरोध दूर करते हैं । ( अतः ) इसलिये इस प्रकार की लीला करना ईश्वरधर्म है, साधन से विरुद्ध फल दान करना ईश्वरधर्म है । इसीको 'न मय्यावेशितधियाम्' (१०।१९२६) मुझ में जिसकी बुद्धि लग गई है, उसका काम, काम के लिये नहीं है, अर्थात् उसको फिर विषयोत्पत्ति नहीं होती है, जिस प्रकार भुने अथवा उबले धान बीज के काम में नहीं आते हैं ।

यहाँ यह सिद्ध किया है कि भगवान् वेद के भी नियामक हैं, अर्थात् वेद भगवान् की आज्ञा मानता है, किन्तु वेद की आज्ञा भगवान् पर नहीं चलती है इस बात का बोध करते हैं, इस प्रकार का ईश्वरधर्म है, अन्यथा–यदि भगवान वेद से नियम्य होकर, अर्थात् वेद की ही मर्यादानुसार कार्य करे तो आप्त ईश्वर ही नहीं होगा । व्यापारियों की तरह सर्व कार्यों में प्रभु का नियम नहीं है ।

ये सब ईश्वरधर्म ही हैं, अतः ईश्वरधर्मों की गणना करते हैं ।

'धर्मव्यतिक्रमः, साहसम्' इत्यादि–धर्मव्यतिक्रम–अर्थात् विद्यमान का उल्लंघन करना । साहस–जो विद्यमान नहीं है, उसका करना । ये दोनों ही धर्म ईश्वर में देखे गये हैं । 'न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम' देखी हुई बात कभी अयुक्त नहीं होती है, यह न्याय है ।

मूल में 'च' है, इससे यह सूचन होता है कि ईश्वर के सेवकों में भी धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है ।

अथवा वीर्य आदि धर्म वालों में धर्मव्यतिक्रम और साहस देखा गया है । अथवा धर्म का उल्लङ्घन ही साहस है, कारण कि ऐसे लोग बिना विचारे एकदम बल से ही कार्य कर डालते हैं ।

यदि कहो कि जब इस प्रकार सहसा धर्म का उल्लङ्घन करते हैं, तो फिर उनको कर्म का फल क्यों नहीं होता ।

इस शंका के उत्तर मे कहते हैं कि ( तेजीयसां ) अतितेजस्वियों को कर्म फल नहीं होता है, कारण कि अतितेजस्वी पुरुषों में धर्म का उल्लङ्घन-अधर्म उत्पन्न करता नहीं है ।

तो फिर वेद से विरोध होता है । तब इस शंका के समाधान में कहते हैं कि वेदविरोध भी नहीं होता है, कारण कि विधि और निषेधवाक्य, जिसका नियमन वेद से हो सकता है, उसीके उद्देश्य से कहे हैं, वेद भगवान का नियामक नहीं है, इसलिये वेद शास्त्र स्मृतियों में कहे विधिवाक्य, और निषेधवाक्य भगवान पर लागू नहीं होते हैं ।

जिस प्रकार लोक में ईश्वर-अतितेजस्वी विधि-निषेध के अधीन स्वयं नही होता है, उसी प्रकार ईश्वर भी वेद में कहे विधि-निषेध के अधीन नहीं है ।

सर्वं कर्मों को भस्म करने में समर्थ अतितेजस्वी पुरुषों को दोष उत्पन्न नहीं होता है । इसमें दृष्टान्त कहते हैं ( वह्नेः सर्वभुजो यथा )

सब को दहन करने वाले अग्नि को वधदोष नहीं लगता है, उसी प्रकार सर्व का भक्षण करना अग्नि को अभक्ष्य का भक्षण करनेवाला कोई नहीं कहता है । उसी प्रकार सब को पान करना, सर्वत्र प्रवेश करना सब से संबंधित हुआ भी अतितेजस्वी, उस उस कर्म का करने वाला नहीं कहा जाता है ।

मिथ्याज्ञानरूप जल से सींची गयी आत्म-भूमि में–अन्तःकरण में कर्मबीज, धर्म-अधर्म का अङ्कुर उत्पन्न करता है, किन्तु तत्वज्ञान रूप ताप से सूख गया है जल जिसका इस प्रकार की ऊषर भूमि में–अन्तःकरण में कर्म बीज धर्म-अधर्म का अंकुर उत्पन्न नहीं करता है, किन्तु स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ ३० ॥

( सुबो० ) ननु 'तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यमि' ति न्यायाद् 'यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पत' इति विरोधाच्च कथमेतत् कर्तुं शक्यत इति चेत्, तत्राह–नैतत् समाचरेदिति ।

यदि शंका करो कि 'तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्यम्' (भा० ३।१२।३१) ब्रह्मा जी से मरीचि प्रभृति मुनि कहते हैं कि अतितेजस्वी पुरुषों की भी परस्त्रीगमन से कीर्ति नहीं होती है, लोक में निन्दा-बुराई होती ही है, इस न्याय से 'यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते' (३।१२।३१।)

अतितेजस्वी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करके लोक कल्याण प्राप्त करता है, इस प्रकार उक्त वाक्यों से विरोध होता है । फिर भगवान् पर स्त्रीसंग कैसे कर सकते हैं, अर्थात् भगवान्ने परस्त्री-संग क्यों किया ?

इस शंका के उत्तर में शुकदेव जी कहते हैं कि 'नैतत् समाचरेत्' ईश्वरकृत कर्म का अनीश्वर आचरण नहीं करे, विशेष क्या है, मन से भी आचरण नहीं करे ।

यद्यपि परीक्षित की शंका का समाधान 'नैतत्' इस श्लोक से नहीं होता है, तथापि इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'विनश्यत्याचरन्' इत्यादि से कहा है कि भगवान् बिना अन्य कोई पुरुष इस प्रकार करेगा तो उसका नाश हो जायेगा, ऐश्वर्य आदि संपत्ति वाले भगवान् के करने से नाश नहीं होता है, इस प्रकार से उक्त शंका का समाधान हो जाता है, इसी आशय से यह श्लोक कहा है, इस प्रकार जानना चाहिये ।

आगे ३४ वें श्लोक में श्रीमदाचार्यों ने कहा है कि अन्तरङ्ग भक्त ही इस भगवान् की लीला को जानते हैं, इसलिये परस्त्री-गमन से भगवान् की कीर्ति का नाश नहीं होता है ।

**नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।**
**विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथारुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥ ३१ ॥**

**पदपदार्थ**—( अनीश्वरः ) जो ईश्वर नहीं है वह ( एतत् ) ईश्वर कर्म को ( जातु ) कभी भी ( मनसा ) मनसे ( अपि ) भी ( न ) नहीं ( समाचरेत् ) आचरण करे ( हि ) यह अर्थ युक्त है (मौढ्यात्) मूढता से (आचरन्) आचरण करता हुआ ( विनश्यति ) नष्ट हो जाता है ( यथा ) जिस प्रकार ( अरुद्रः ) रुद्रसमान पराक्रमरहित ( अब्धिजं ) समुद्र से निकला ( विषम् ) विषको ( आचरन् ) आचरण करता-भक्षण करता हुआ ( विनश्यति ) नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

**भावार्थ**—जो ईश्वर नहीं है, वह मन से भी कभी ईश्वरकृत कर्म का आचरण नहीं करे, जिस प्रकार 'अरुद्र-रुद्रसमान पराक्रम रहित समुद्र से निकला हुआ विष पानकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अनीश्वर मूढता से ईश्वरकृत कर्म का आचरण करने से नष्ट हो जाता है ॥३१॥

( सुबो० ) एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत् । ऐश्वर्यसमानाधिकरणमेवैतत् नानिष्टं करोति । अतः जातु कदाचिदपि औत्सुक्यादपि न समाचरेत् । किं बहुना मनसापि । ऐश्वर्यतुल्यमेव तेषां तत्कर्म । यथैश्वर्यकामनायामपि अनीश्वरो वधमर्हति, यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन्, अतो मनसाऽपि न समाचरेत् । विपरीते बाधकमाह—विनश्यतीति । मौढ्यादैश्वर्यसहभावं तस्य कर्मणः अज्ञात्वा केवलं तत् कर्म आचरन् तेनैव कर्मणा नष्टो भवति । नत्वेकमेव कर्म कथं धर्मान्तरसहितं न नाशकम्, इतरथा नाशकमिति चेत्, तत्राह । अरुद्रः रुद्रव्यतिरिक्तः रुद्रसमानपराक्रमरहितः अब्धिजं विषं कालकूटमाचरन् आ समन्ताद् भक्षयन् विनश्यति तथेत्यर्थः । निन्दितं कर्मापि कालकूटवन्नाशकम् । तदीश्वरस्यैव शोभाकरम्, येन नीलकण्ठो भवति । तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥३१॥

इस ईश्वरकृत कर्म का जो ईश्वर नहीं है, वह नहीं आचरण करे । जिसमें इस प्रकार का ऐश्वर्य है, वही मनुष्य करे तो उसको आचरण अनिष्ट नहीं करता है, इसलिये कभी भी-उत्कंठा से भी आचरण नहीं करे, विशेष क्या कहें, मन से भी आचरण नहीं करे ।

अब मूल में 'हि' शब्द है, उससे सूचित अर्थ कहते हैं कि जिसमें जितना ऐश्वर्य है, वे पुरुष अपने ऐश्वर्य के तुल्य ही कर्म करते हैं, और जिनमें ऐश्वर्य नहीं है, वे यदि ऐश्वर्य की इच्छा करें तो वध के योग्य होते हैं ।

जिस प्रकार महाराज्य प्राप्ति में अनधिकारी, राज्य की इच्छा करे तो वधयोग्य होता है, अतः मन से भी ईश्वरकर्म का आचरण नहीं करे।

ईश्वरकर्म आचरण करने में बाधक कहते हैं ( विनश्यति ) धर्मविरुद्ध आचरण ऐश्वर्य के साथ है, अर्थात् ऐश्वर्य बिना नहीं हो सकता है ।

यदि ऐश्वर्य वाले के कर्म को मूढता से नहीं जानकर आचरण करता है, परस्त्रीसङ्ग करता है तो उसी कर्म से नष्ट हो जाता है ।

यदि शंका करो कि एक ही कर्म ऐश्वर्य वाले का नाश नहीं करता है और अनीश्वर का नाश करता है, यह कैसे संभव होता है ।

इस शंका के समाधान में श्री शुकदेवमुनि कहते हैं कि ( अरुद्रः ) रुद्र से अन्य, अर्थात् रुद्रसमान पराक्रम रहित पुरुष जिस प्रकार समुद्र से निकला विष कालकूट सबका भक्षण करके नष्ट हो जाता है, निन्दित कर्म भी कालकूट विष की तरह नाश करता है ।

वही कालकूट विष ईश्वर-महादेव की शोभा करने वाला है, जिसके कारण महादेव जी नीलकण्ठ हो गये, उसी प्रकार निंदित कर्म, परस्त्रीगमन भगवान् की शोभा करने वाला है, जिसके कारण अर्थात् गोपियों के साथ रमण करके गोपीजनवल्लभ कहलाये ॥ ३१ ॥

( सबो० ) ननूक्तं 'यद्वृत्तमनुतिष्ठ' न्निति, तत्राह ईश्वराणामिति ।

---

राजा ने प्रथम कहा कि अतितेजस्वी पुरुषों के चरित्र का अनुकरण करके लोक कल्याण प्राप्त करता है, इसका उत्तर श्रीशुकदेवजी आगे श्लोक में देते हैं ।

**ईश्वराणां वचस्तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।**
**तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमाँस्तत् समाचरेत् ॥**
**पाठान्तरे तेषां स्वच्छन्दचरितं बुद्धिमान्न समाचरेत् ॥३२॥**

**पदपदार्थ**—( ईश्वराणां ) ऐश्वर्य वाले पुरुषों के ( वचः ) वचन ( तथ्यम् ) सत्य हैं ( तथा ) उसी प्रकार ( एव ) ही ( क्वचित् ) कहीं पर ( आचरितं ) आचरण किया सत्य है, ( तेषां ) आचरणों के मध्य में ( यत् ) जो आचरण ( स्ववचो ) अपनी वाणी से ( युक्तं ) योग्य है, ( बुद्धिमान् ) बुद्धिमान् पुरुष ( तत् ) उस को ( समाचरेत् ) करे । पाठान्तर अर्थ—( तेषां ) ईश्वरों के ( स्वच्छन्दचरितं ) स्वतन्त्र आचरण को ( बुद्धिमान् ) ज्ञानवान् ( न ) नहीं ( समाचरेत् ) आचरण करे ॥ ३२ ॥

**भावार्थ**—ऐश्वर्यवाले पुरुषों का वचन सत्य होता है, और कहीं आचरण भी सत्य होता है, उन आचरणों में जो आचरण अपनी वाणी से योग्य हो उसका बुद्धिमान् आचरण करे, अथवा ऐश्वर्य वाले पुरुषों के स्वच्छन्द स्वतन्त्र आचरण का बुद्धिमान् नहीं आचरण करें ॥ ३२ ॥

( सुबो० ) ईश्वराणां वच एव तथ्यम्, न त्वाचरितम् । क्वचिदाचरितमपि वचनानुगुणं चेत् । ईश्वराणां बहवो धर्माः । अथैश्वर्यम्, तथा धर्मात्मत्वम्, तथा दया । तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत् करोति, तत् स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते । बुद्धिमान् तन्न समाचरेत् । ते ह्यन्यथा न वदन्ति । अन्यार्थं कथनमन्याधिकारेणेति । अतस्तद्विरुद्धं न कथयन्तीति ॥ ३२ ॥

ईश्वरों की वाणी ही सत्य है, आचरण सत्य नहीं है ।
भगवान का आचरण-गोपियों के साथ रमण चरित्र लोकसंग्रह के लिए नहीं है, किन्तु
निरङ्कुश-जिसका कोई प्रतिबंध नहीं कर सके, इस प्रकार का अपना ऐश्वर्य बोधन करने के लिये
है, इसलिये भगवान् का चरित्र बाहर के रूप देखने में सत्य नहीं है, अर्थात् साधारण जीव को
आचरण करने योग्य नहीं है ।

किसी समय ईश्वरों का आचरण भी यदि वचन के अनुकूल हो तो सत्य है । भगवान् का
वचन सत्य है, इसका आशय यह है कि भगवान का वचन मानकर करना चाहिये, भगवान का
आचरण वचनानुकूल सत्य है, इसका आशय यह है कि भगवान के समान अन्य ऐश्वर्य वाला
पुरुष इस प्रकार का आचरण कर सकता है, साधारण पुरुष नहीं कर सकता है । इस प्रकार
जानना चाहिये ।

ईश्वरों के बहुत धर्म हैं, जिस प्रकार ऐश्वर्य धर्म है, उसी प्रकार धर्मात्मत्व भी है, दया
भी है, इन धर्मों में ऐश्वर्य, ज्ञान और वैराग्य, इन तीन धर्मों से जो कार्य करता है, उसको स्वच्छन्द
चरित्र कहते हैं, बुद्धिमान पुरुष स्वच्छन्द चरित्र का आचरण नहीं करे ।

आगे ३३ वें श्लोक में 'एषां' इस पद से ऐश्वर्य का, और 'निरहंकारिणां' इस पद से ज्ञान
वैराग्य का विवरण किया है ।

योजनाकार लाल्लू भट्ट जी 'किमुताखिलसत्त्वानां' इस ३४ वें श्लोक में 'ईशतुः' इस पद से ऐश्वर्य का निरूपण करते हैं, शेष सर्व व्याख्यान एक-सा है ।

ईश्वरों की वाणी सत्य है, इसमें उपपत्ति कहते हैं कि ईश्वर असत्य झूठ नहीं बोलते हैं, कारण कि ईश्वर दूसरों का अधिकार देखकर, उसके अनुसार ही वचन कहते हैं—उपदेश देते हैं, अतः ईश्वर अधिकार विरुद्ध दूसरों से नहीं कहते हैं । जिसका जिस प्रकार का अधिकार होता है, उसको अधिकारानुसार कहते हैं ॥ ३२ ॥

( सुबो० ) ननु यथान्यस्मै न कथयन्ति, तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति, तत्राह कुशलाचरितेनेति ।

यदि शंका करो कि जिस प्रकार ईश्वर अन्य के लिये अधिकारानुसार कहते हैं, अधिकार वरुद्ध नहीं कहते हैं, उसी प्रकार स्वयं भी आचरण क्यों नहीं करते हैं । इस शंका के उत्तर में आगे कहते हैं ।

**कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।**
**विपर्ययेण वाऽनर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥ ३३ ॥**

**पदपदार्थ**—(हे प्रभो) हे राजन् (निरहंकारिणां) अहंकार रहित (एषां) ऐश्वर्ययुक्त पुरुषों के (कुशलाचरितेन) कुशल कर्म आचरण करने से (इह) इसमें (स्वार्थः) अपना प्रयोजन (वा) अथवा (विपर्ययेण) निषिद्ध कर्म आचरण करने से (अनर्थः) अनर्थ-अनिष्ट (न) नहीं (विद्यते) उपस्थित होता है ॥ ३३ ॥

**भाषार्थ**—हे राजन् अहंकार रहित ईश्वरों को कुशल पुण्य-कर्म आचरण करने से इसमें स्वार्थ सिद्ध नहीं होता है, अथवा निषिद्ध कर्म आचरण करने से अनर्थ नहीं होता है ॥ ३३ ॥

( सुबो० ) एवमीश्वराणां कुशलाचरितेन अर्थः प्रयोजनं न विद्यते, ततोऽप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वादेव । विपर्ययेण अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते । ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणा अनिष्टाभाव इति न, किन्तु ज्ञानिनामपीति ज्ञान-वैराग्ययोस्तुल्यं स्वरूपमाह निरहङ्कारिणामिति । अहङ्काररहितानाम् । न केनापि किमपि, कर्तृत्वाभिमानाभावात् । प्रभो इति सम्बोधनमीश्वरस्य लोक-विलक्षणत्वज्ञापनार्थम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार ईश्वरों को कुशल आचरण से अर्थ प्रयोजन नहीं होता है, कारण कि ईश्वरों ने इससे भी अधिक अनन्तफल प्राप्त किया है, और ईश्वरों को विरुद्ध आचरण से अनर्थ भी नहीं होता है ।

केवल ईश्वरों को ही निषिद्ध कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, यह बात नहीं है, किन्तु ज्ञानियों को भी निषिद्ध कर्म करने से अनिष्ट नहीं होता है, अतः ज्ञान वैराग्य दोनों का तुल्य स्वरूप श्रीशुकदेवजी कहते हैं, 'निरहंकारिणाम्' अहंकार रहित पुरुषों को भी निषिद्ध कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, कारण कि किसी प्रकार से भी कुछ भी ज्ञानियों में कर्तृत्व अभिमान नहीं होता है ।

हे प्रभो, यह सम्बोधन राजा परीक्षित को इसलिये दिया है कि ईश्वर जिसमें ऐश्वर्य होता है, वह जगत् से विलक्षण होता है, इस बात का आपको स्वयं अनुभव है ॥ ३३ ॥

( सुबो० ) यत्र ज्ञानसहकृतमेव तत्कर्म नानिष्टजनकम, किं वक्तव्यमैश्वर्य-सहकृतमित्याह किमुतेति ।

जहां ज्ञान के साथ कर्म किया जाता है, वहां वह कर्म अनिष्ट उत्पन्न नहीं करता है, फिर वह कर्म ऐश्वर्य के साथ किया जाये तो क्या कहना चाहिये, इस बात को आगे श्लोक में शुकमुनि कहते हैं ।

**किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।**
**ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥ ३४ ॥**

**पदपदार्थ**—(अखिलसत्त्वानाम्) सब जीवों के (तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्) पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के (ईशितुः) ईश्वर नियामक कृष्ण के (च) आत्मा के (ईशितव्यानां) सेवकों के सम्बन्धी (कुशलाकुशलान्वयः) इष्ट अनिष्ट सम्बन्ध (किमुत) कैसे हो सकता है ॥ ३४ ॥

**भाषार्थ**—पूर्व श्लोक में कहा है कि जब ज्ञान से किया कर्म अनिष्टजनक नहीं होता है, तो फिर सब जीव पशु-पक्षी मनुष्य और देवताओं के ईश्वर नियामक कृष्ण को सेवकों के सम्बन्ध-कृत गुण दोषों से इष्ट-अनिष्ट पुण्य-पाप का सम्बन्ध कैसे हो सकता है ॥ ३४ ॥

( सुबो० ) ईश्वरस्ग सेवकमारणे सेवकानामन्यथा करणे च न काचित् शङ्का भवति । यथैहिकी, तथा पारलौकिकी । नियामकाद्धि शङ्का । भगवतो न नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह अखिलसत्त्वानां सर्वजीवानाम् । तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसां गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृत-प्राकृतानां वा सर्वेषामेव ईशितुः प्रभोः कृष्ण-स्य । चकारादात्मनश्च । ईशितव्यानां सेवकानां सम्बन्धी । तत्कृतगुणदोषाभ्यां कुशलाकुशलयोरन्वयः कुतः । न हि दासीभिः स्वात्मभूताभिः सम्बन्धे अनियम्य-स्य ऐहिके पारलौकिके वा कश्चनापकारः सम्भवति । अन्तरङ्गैरेव तथा ज्ञायत इति न सुश्लोक्यतानिवृत्तिः ॥ ३४ ॥

ईश्वर सेवक को मारे, अथवा जिलावे, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में रखे, तो भी इसमें नियामक ईश्वर को किसी प्रकार की इसलोक-परलोक की शंका नहीं होती है, कारण कि शंका तो अपने ऊपर कोई नियामक हो, उससे होती है, भगवान् का तो कोई अन्य नियामक नहीं है, इसी बात को शुकमुनि कहते हैं 'अखिलसत्त्वानाम्' सब जीवों के पशु, पक्षी, मनुष्य, देवताओं के भगवान् ईश्वर हैं ।

पशु पक्षी मनुष्य देवता, ये तीनों गुणों के कार्य हैं, अर्थात् पशु-पक्षी तमोगुण के कार्य हैं, मनुष्य रजोगुण के कार्य, और देवता सत्त्वोगुण के कार्य हैं ।

इस प्रकार अर्थ करने से 'अखिलसत्त्वानां' इस पद का 'तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्' यह विशेषण हो जाता है ।

और यदि दोनों पदों को भिन्न-भिन्न मानते हैं, तब इसका व्याख्यान श्रीमहाप्रभु जी इस प्रकार करते हैं 'जीवजडानां' भगवान जीव जड़ों के ईश्वर हैं, इस अर्थ में 'अखिलसत्त्वानां' इस पद से जीवों का वर्णन किया है, और तिर्यङ् आदि पद से जड़ों का वर्णन किया है ।

अथवा तीसरा अर्थ—'अप्राकृतप्राकृतानां' भगवान अप्राकृत और प्राकृतिक पदार्थों के ईश्वर हैं इस अर्थ में पूर्व 'अखिल' आदि पद से अप्राकृत और 'द्वितीयतिर्यङ्' आदि पद से प्राकृत पदार्थों का वर्णन किया है ।

इस प्रकार सब का ही ईश्वर प्रभु कृष्ण है, श्लोक में 'च' चकार सूचन करता है कि सब को कृष्ण आत्मा हैं ।

'ईशित यानां' इस पद का चतुर्थ चरण से अन्वय है, इस बात को श्री महाप्रभुजी कहते हैं कि ईशितव्यों के-सेवकों के सम्बन्धी, अर्थात् सेवकों के किये गुण और दोषों से सब के ईश्वर कृष्ण के लिये इष्ट, अनिष्ट सम्बन्ध कैसे हो सकता है, अपनी आत्मभूत दासियों के साथ सम्बन्ध में कोई भी जिसका नियमन नहीं कर सके, इस प्रकार के सर्व के ईश्वर कृष्ण को इस लोक में तथा परलोक में किसी प्रकार का अपकार सम्भव नहीं होता है ।

कृष्ण सब का ईश्वर है, इसलिये कोई भी इसका इस लोक में नियमन नहीं कर सकता है, अर्थात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भगवान चाहे जो करे कोई कुछ कह नहीं सकता है ।

कृष्ण सब की आत्मा है, ब्रह्म है । इसलिये परलोक के विषय में भी कोई कुछ नहीं कर सकता है ।

दासियों के साथ भगवान के सम्बन्ध को अन्तरङ्ग भक्त ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जानते हैं, इसलिये भगवान की अपकीर्ति निन्दा नहीं होगी ।। ३४ ।।

( सुबो० ) नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षेऽपि दोषः शङ्कनीयः । यथा 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'स आत्मानमेवावैत्' इत्यादिश्रुतिषु यथा ज्ञानकर्मभ्यामुत्कर्षः, एवमपकृष्टज्ञानकर्मभ्यामपकर्षोऽपि सम्भाव्यत इति, तत्राह यत्पादेति ।

कर्ममार्ग के विचार से भी जिसमें कर्म की प्रधानता है, इस पक्ष में भी भगवान में दोष शंका नहीं करनी चाहिए । जिस प्रकार 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्' परमेष्ठी का यह प्रथम यज्ञ हुआ, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'यह ब्रह्म प्रथम था' 'स आत्मानमेवावैत्' वह आत्मा को ही जान इत्यादि श्रुतियों मे जिस प्रकार ज्ञान और कर्म का उत्कर्ष कहा है । प्रथम श्रुति में कर्म से उत्कर्ष और द्वितीय श्रुति में ज्ञान से उत्कर्ष कहा है, इसी प्रकार अपकृष्ट, अर्थात् हीन ज्ञान और हीन कर्म से अपकर्ष-अधोगति भी संभावित होती है । इस प्रकार की शंका का समाधान करते श्री शुकदेव जी कहते हैं ।

यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता
योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना-
स्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥ ३५ ॥

**पदपदार्थ**—( यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ताः ) जिस भगवान के चरण कमल के पराग की सेवा से जो तृप्त हैं ( योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ) योग के प्रभाव से दूर किया है कर्मों का बंधन ( अपि ) भी ( न ) नहीं ( नह्यमानाः ) बंधन को प्राप्त होते ( स्वैरं ) यथेच्छ अपने इच्छानुसार ( चरन्ति ) आचरण करते हैं, ( इच्छयात्तवपुषः ) जिसने अपनी इच्छा से शरीर धारण किया है ( तस्य ) उस भगवान को (बन्धः) बन्ध ( एव ) ही ( कुतः ) कैसे ।। ३५ ।।

**भाषार्थ**—जिस भगवान के चरण कमल के परागभूत सेवकों की सेवा से तृप्त हैं, और योग प्रभाव से अणिमादि ऐश्वर्य संपत्ति अथवा ज्ञान आदि से जिनका कर्म बन्धन दूर हो गया है, और मुनि भी कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होते हैं, और अपने इच्छानुसार आचरण करते हैं, फिर अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले भगवान को बंध कैसे हो सकता है ।। ३५ ।।

( सुबो० ) नहि सर्वेषामेव जीवानां समानकर्मणा समानं फलमुपलभ्यते । अन्यथा शास्त्रवैफल्यापत्तिः । उत्कृष्टकर्मादौ प्रवृत्तो नापकृष्टकर्मणा कादाचित्केन अपकृष्टो भवति । तत्र मार्गत्रयम् । त्रिष्वपि प्रवृत्तो नापकर्षं यातीत्याह । तत्र प्रथमं भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य, तत्र पुष्टस्य, न केनाप्यपकर्ष इत्याह । यस्य भगवतः पादपङ्कजस्य परागभूता ये सेवकाः तेषां निषेवो निषेवणं तेन तृप्ताः । भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेशाभासाः स्वैरं चरन्ति । न तेषां कर्मोत्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ । तथा कर्ममार्गेऽपीत्याह योगप्रभावेति । योगो हि महान् धर्मः । 'अयं हि परमो धर्म' इति स्मृतेः । तस्य प्रभावः अणिमाद्यैश्वर्यसम्पत्तिः ज्ञानादयश्च । तेनैव विशेषेण धुताः । पूर्वकर्मजनिता अपि अखिलकर्मबन्धाः विशेषेण धुता भवन्ति । तेऽपि स्वैरं चरन्ति । ज्ञानमार्गेऽप्याह मुनयोऽपि स्वैरं चरन्तीति । सर्व एव न नह्यमानाः अबध्यमानाः । णह बन्धने । सर्वत्रैव असम्बध्यमानाः । यत्र भगवत्प्रवर्तितमार्गेष्वप्येषा व्यवस्था, तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह तस्येच्छयात्तवपुष इति । इच्छया भोगार्थं आत्तानि वपूंषि 'यावतीर्गोपयोषित' इति तावन्ति येन । तस्य कुत एव बन्धो भवेत् । यो हि तावद्रूपो भवति, कार्यं कृत्वा च तान्याच्छादयति, तस्य केन कर्मणा बन्धो भवेत् । कर्म हि प्रतिनियतं व्यवस्थितम् । तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यात् , तदा तेन क्रमंणा बन्धो वा भवेत् । आकाशवद् भगवद्रूपाणि प्रतिपदमन्यान्येव भवन्ति । यथान्नभेदेनाप्येकदेहव्यवहारः एवं देशभेदेनापि भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तस्य तावत्परिच्छेदेन प्रादुर्भाव इच्छयेति । स्वामिनीनां वा वपूंषि । अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि न बन्धः सम्भवति ॥ ३५ ॥

सभी जीवों को समान कर्म से समान फल नहीं मिलता है, कारण कि निषिद्ध कर्म करके यदि प्रायश्चित्त करे तो उस कर्म का अनिष्ट नहीं होता है, यदि ज्ञानी अथवा योगी निषिद्ध कर्म करे, तथा भगवान का भक्त करे तो उसको निषिद्ध भी कर्म से अनिष्ट नहीं होता है, इसलिये समान कर्म से समान फल नहीं होता है, इस प्रकार जो कहा है, वह योग्य ही है ।

यदि इस प्रकार नहीं मानते हैं तो ज्ञानादिशास्त्र व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् यदि साधारण जनों की तरह प्रायश्चित्त करने वाले भी ज्ञानी, योगी और भगवान् के भक्तों को अनिष्ट फल हो, तो प्रायश्चित्त शास्त्र 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' हे अर्जुन ! ज्ञानरूप अग्नि सर्वकर्मों को भस्म करता है, 'योगेनैव दहेदंहः' योग से ही पाप दूर करे 'नाम्नोस्ति यावती शक्तिः पापनिर्दहने मम। तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः' भगवान कहते हैं कि मेरे नाम की शक्ति जितनी पापदहन करने में है, उतना पाप पातकी जन नहीं कर सकता है, इत्यादि शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा।

उत्तम कर्म आदि करने वाला पुरुष कभी नीच कर्म करे तो वह उस नीच कर्म से नीच नहीं होता है, इसमें तीन मार्ग कारण हैं, तीनों मार्गों में प्रवृत्त पुरुष हीन नहीं होता है, इस बात को कहते हैं कि इन तीनों मार्गों में प्रथम भक्ति मार्ग में प्रवृत्त पुरुष का, उसमें भी पुष्टभक्त किसी कर्म से हीन नहीं होता है, इस बात को शुकदेव जी कहते हैं कि, 'यत्पादपङ्कज' इत्यादि।

जिस भगवान के चरणकमल के परागभूत सेवकों की सेवा करने से जो पुरुष तृप्त हैं, और भगवान् के भक्तों के साथ भगवद्गुणों का स्मरण करके देखा और सुना सुखलेश का आभास भूल गये हैं, इस प्रकार के पुरुष अपने इच्छानुसार कार्य करते हैं, इस प्रकार के भक्तों को उत्तम कर्म की उत्तमता तथा हीन कर्म की हीनता साधक बाधक नहीं है।

इस विषय में यहाँ प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम जी कहते हैं कि जिस प्रकार के भक्तों के लक्षण श्री महाप्रभु जी ने कहे हैं, यदि उसी प्रकार के भक्त हों, तो ही उत्तम हीन कर्म साधक बाधक नहीं होते हैं, किन्तु वर्तमान काल में जो भक्त उक्त प्रकार के नहीं हैं, पुष्टिमार्ग में प्रवेशमात्र से इच्छानुसार आचरण करते हैं, उनको दुष्ट जानना चाहिये। उनका सङ्ग नहीं करना चाहिये।

कर्ममार्ग विचार से भी कर्मप्राधान्य पक्ष में भगवान् में दोष शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार जो आभास में कहा है, उसका वर्णन करते हैं, ( योगप्रभाव ) इत्यादि से, योग महान् धर्म है, 'अयं हि परमो धर्मः' इस प्रकार स्मृति में कहा है, योग का प्रभाव-अणिमा आदि ऐश्वर्य संपत्ति, और ज्ञान आदि हैं, इसी योग के प्रभाव से विशेष करके दूर किये कर्म बन्धन जिनमें, अर्थात् योगीजनों में पूर्व कर्म से उत्पन्न हुए भी सर्वकर्मबंध योग द्वारा विशेष से दूर हो जाते हैं, इसलिये योगीजन भी अपनी इच्छा से चलते हैं।

अब ज्ञानमार्ग के विषय में भी कहते हैं ( मुनयोऽपि स्वैरं चरन्ति ) मुनि लोग भी अपने इच्छानुसार चलते हैं।

इस प्रकार भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग, और ज्ञानमार्ग वाले तीनों प्रकार के पुरुष कर्मों से बँधते नहीं हैं।

'नह्यमानाः' इस मूल के पद में 'णह बन्धने' धातु है, इसका बन्धन अर्थ है, इस प्रकार के पुरुषों को सर्वत्र ही बन्धन नहीं होता है।

जब कि भगवान् के किये मार्गों में भी इस प्रकार की व्यवस्था है, तो फिर भगवान् के विषय में क्या कहना चाहिये। इसी बात को श्री शुकदेव जी कहते हैं ( तस्येच्छयात्तवपुषः ) अपनी इच्छा से भोग करने के लिये प्रकट किये हैं, शरीर जितनी गोप स्त्रियां उतने ही जिसने इस प्रकार के भगवान को बन्ध ही कैसे हो सकता है, मूल में 'वपु' शब्द शरीर प्राकट्य पर है, इस प्रकार श्री महाप्रभु जी का आशय है। जो भगवान इतने स्वरूप प्रकट करता है, और कार्य करके उन स्वरूपों को तिरोहित करता है, उस भगवान को किस कर्म से बन्ध हो सकता है।

भगवान ने जिस रूप से कर्म किया है, उस रूप का तथा कर्म का आच्छादन तिरोधान ही किया है, उत्पत्ति और नाश नहीं किया है।

इस प्रकार सभी भगवान के कर्म नित्य हैं, अतः भगवान् में उचित अनुचित कर्म सर्वदा विराजमान हैं, इसलिये किस कर्म से बन्ध हो, कारण कि भगवान में बन्ध छुड़ाने वाले भी कर्म विद्यमान हैं।

जिस स्थान में मोक्ष करने वाले कर्म नहीं होते हैं, उस स्थान में बंध करने वाला कर्म प्राणी को बंध करता है, और जिस स्थान में बन्ध करने वाले तथा मोक्ष करने वाले दोनों ही प्रकार के कर्म रहते हैं, उस स्थान में बन्धक कर्म से बन्ध नहीं होता है, इसलिये भगवान में बन्ध संभावना नहीं है, इसी बात को श्री महाप्रभु जी ने सुबोधिनी जी में 'यो हि तावद्रूपः' यहाँ से लेकर 'आच्छादयति' यहां तक कहा है।

तिरोभाव से सब कर्मों का नित्यत्व सूचन किया है, इससे भगवान में सर्वबन्धक और मोचक कर्म सर्वदा विद्यमान है, इसलिये भगवान का बन्ध तथा मोक्ष नहीं है, यह भाव है।

कर्म प्रतिनियत हैं, अर्थात् यहां नियत, नियत के प्रति लक्ष्य करके हर एक-प्रत्येक जीव का कर्म नियत व्यवस्थित है, अर्थात् उसका समय निर्धारित है, जिस प्रकार 'यथा वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नियों का आधान करे।

इसी प्रकार क्षत्रियों को भी इस समय में अमुक कर्म करना चाहिये, इस समय अमुक कर्म नहीं करना चाहिये, इत्यादि प्रकार से प्रत्येक का कर्म व्यवस्थित है।

उसमें भी यदि ब्राह्मण क्षत्रिय आदि प्रकार से जीव भिन्न भिन्न हो तो, उस उस जीव को उस उस कर्म से बन्ध हो जाये, किन्तु यहां तो भगवान के बहुत रूप होने पर भी जीव का अभाव है, अतः भगवान के बहु रूप भी आत्म रूप हैं, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भाव न होने से भगवान् को कुछ भी कर्म विहित, तथा निषिद्ध नहीं हैं, अतः बन्ध नहीं है, इस प्रकार योजनाकार लालूभट्ट जी कहते हैं, यह भाव है।

प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी तो इस प्रकार कहते हैं कि कर्म अमुक अमुक शरीर का उद्देश करके कहा है, शरीर में यदि भिन्न भिन्न जीव हों तो उस शरीर से अथवा कर्मबन्ध हो जाये, आकाश की तरह भगवान के स्वरूप तो पद पद में अन्य अन्य ही होते हैं।

जिस प्रकार अन्न भेद से भी एक देह का व्यवहार होता है। जब तक जिसके अन्न से देह पोषित होता है, तब तक देह अन्नदाता का होता है, इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है। फिर दूसरे के अन्न से पोषित वही देह दूसरे का तब तक होता है, इस प्रकार लोक में व्यवहार होता है।

प्रकाशकार कहते हैं कि अन्न, पृथिवी है, 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' जो पृथिवी में कृष्ण वर्ण है, वह अन्न का है। इत्यादि श्रुतियों से अन्न पृथिवी सिद्ध किया है।

लौकिक देह में वृद्धि - बढ़ना तथा विपरिणाम-अवस्था से और का और हो जाना, आदि के देखने से पृथिवी के अंशों का एकत्र संयोग तथा वियोग के संदेह भेद से भी जिस प्रकार पृथिवी के अंशों की सन्तति का ऐक्य होने से, अथवा अवच्छेद का ऐक्य होने से, एक देह का व्यवहार होता है, उस प्रकार यहां पृथिव्यात्मक के साथ देश का ऐक्य न होने के कारण, अवच्छेद देह का ऐक्य नहीं है, अतः एक देह व्यवहार है, इसी बात को कहते हैं कि ( भगवतः ) इस प्रकार देशभेद से भी भगवान् के 'सर्वतः पाणिपादान्तं ' सर्वत्र हस्त चरण आदि हैं, इस प्रकार के भगवान का उतने ही परिच्छेद से अपनी इच्छा से प्रादुर्भाव है।

* * *

यदि कहो कि भगवान के हस्त चरण सर्वत्र हैं, इस प्रकार का समाधान ( आत्तवपुषः ) इस पद से विरुद्ध है, अतः उक्त प्रकार कोई नहीं माने तो श्रीमहाप्रभु जी प्रकारान्तर से समाधान करते हैं ( स्वामिनीनां वा वपूंषि ) भगवान् ने स्वामिनियों के शरीर भोग करने के लिये अपनी इच्छा से धारण किये हैं, इसलिये स्वामिनियों के शरीरों के अन्य व्यवस्थापकों का अभाव होने से यहां कर्म से बन्ध नहीं है । अतः सर्वथा प्रमाण तथा प्रमेय के विचार से भी भगवान को बन्ध संभव नहीं है ।

यहाँ तक श्री शुकदेव जी ने राजा परीक्षित की शंका का लौकिक रीति से समाधान किया है, अब आगे छत्तीसवें श्लोक में वस्तुस्थिति के अनुसार समाधान करेंगे ॥ ३५ ॥

( सुबो० ) ननु तथापि लोकमर्यादाभग्नत्वात् 'यद् यदाचरति श्रेष्ठः' इति न्यायेन शब्दबलविचारेण बन्धो भवेत् ते ह्यवधूतास्त्रयोऽपि, न ते व्यवहार-नियामकाः । अतो विषमो दृष्टान्त इति चेत् , तत्राह–गोपीनामिति ।

यदि शंका करो कि तो भी मर्यादा का भंग भगवान ने किया है, 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः' जिस जिस आचरण को श्रेष्ठ पुरुष करता है, इतर लोक उसके अनुसार चलता है, इस न्याय से शब्द बल विचार करने से भगवान को बंध ही होगा । और प्रथम श्लोक में भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग और ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वालों का उदाहरण दिया है, वे तीनों तो अवधूत हैं, ये जगत् व्यवहार में नियामक नहीं हैं । इसलिये दृष्टान्त विषम है । इस प्रकार की शंका में शुकदेव जी शंका करने वालों को भ्रान्तत्व कहते हैं ।

**गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् ।**
**योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥ ३६ ॥**

**पदपदार्थ**—(गोपीनां ) गोपियों के ( तत्पतीनां च ) और गोपियों के पतियों के ( सर्वेषाम् ) सर्व ही ( देहिनाम् ) देहधारियों के ( अपि ) भी ( यः ) जो भगवान ( अन्तः ) भीतर ( चरति ) भ्रमण करता है, ( सः ) वह भगवान् ( इह ) यहां ( अध्यक्षः ) प्रत्यक्ष ( क्रीडनेन ) क्रीडा करके ( देह भाक् ) मनुष्य देह धारण करने वाला है ॥ ३६ ॥

**भावार्थ**—गोपियों के और गोपियों के पतियों के तथा सर्व देहधारियों के भीतर जो भगवान भ्रमण करता है, वह भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष क्रीडा करके पुरुष देह धारण करने वाला है ॥ ३६ ॥

(सुबो०) न हि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि निषिद्धः । परा चासौ स्त्री च परस्य च स्त्री । उभयमपि न भगवति । यतः भगवान् गोपीनां तत्पतीनां च आत्मा । बान्धवाः सर्वे लौकिकाश्च न मन्यन्त इति चेत्, तत्राह । सर्वेषामपि देहिनामय-मात्मेति । यो भगवान् अन्तश्चरति । आसन्यो जीवो वा । सर्ववादिसिद्धान्त-सङ्ग्रहाय सामान्यवचनं योऽन्तश्चरतीति । स एवायं भगवानध्यक्षः प्रत्यक्षः क्रीड-नेन कृत्वा नटवत् पुरुषदेहं भजते । वस्तुतस्तु नायं पुमान्, नच स्त्री, नाप्यन्यः क्वचित् । 'न स्त्री न षण्ढो न पुमानि'ति श्रुतेः । अतः केनापि विचारेण नास्य दोषसम्भवः ॥ ३६ ॥

अपना ही स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं है, परस्त्री अर्थात् दूसरी स्त्री, अथवा दूसरे की स्त्री, ये दोनों ही भगवान् में नहीं हैं, कारण कि भगवान् गोपियों की और गोपियों के पतियों की आत्मा है, इस बात को सर्व बान्धव और सर्व लौकिक पुरुष नहीं मानते हैं ।

इस प्रकार शंका करने पर उत्तर देते हैं कि ( सर्वेषामपि ) सर्व देहधारियों की यह भगवान् आत्मा है, जो भगवान् मुख्य प्राण आसन्न रूप से अथवा जीव रूप से सब के भीतर रहता है ।

प्रथम पक्ष 'मुख्य प्राण रूप' में परितोष न होने के कारण यहाँ दूसरा पक्ष जीव कहा है । इसलिये दूसरा पक्ष जीव उत्तम है, अतः भगवान् गोपियां के जीव रूप होने से गोपियों के देह, भगवान् के ही देह हैं । इसलिये कोई दोष नहीं है । इसी बात को लक्ष्य करके प्रथम कहा है कि अपना स्पर्श अपने को कहीं भी निषिद्ध नहीं होता है ।

सर्ववादियों के सिद्धान्त का संग्रह करने के लिये श्री शुकदेव जी ने सामान्य वचन का प्रयोग किया है कि 'योऽन्तश्चरति' जो भगवान् भीतर भ्रमण करता है, वह भगवान् यह प्रत्यक्ष क्रीडा से नट की तरह पुरुष देह धारण कर रहा है ।

यहाँ 'क्रीडनेन' इस पद से शंका करनेवाले भ्रान्त हैं. इसमें हेतु विशद किया है । वास्तव में तो भगवान् का देह पुरुष नहीं, स्त्री नहीं, और अन्य कोई नहीं है, इस बात को श्रुति बतलाती है कि 'नस्त्री न षण्ढो न पुमान्' इस श्रुति में निषेध तत्तद्देह कृत कर्म का किया है, प्रभु तो स्वयं ही पुरुष है, देह के कारण पुरुष नहीं है । इसी से श्रुति में एक ही वाक्य में 'पुरुषं पुरुषविधम्' कहा है । अतः किसी भी विचार से भगवान् को दोष संभव नहीं होता है ॥ ३६ ॥

( सुबो० ) ननु तथापि एवं करणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह अनु-ग्रहायेति ।

यदि शंका करो कि तो भी इस प्रकार लीला करने में भगवान् का अभिप्राय क्या है ? इस शंका का उत्तर श्री शुकदेव जी आगे श्लोक में देते हैं ।

**अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।**
**भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ ३७ ॥**

**पदपदार्थ**—( भक्तानां ) भक्तों के ऊपर ( अनुग्रहाय ) अनुग्रह-कृपा करने के लिये ( मानुषं ) मनुष्य ( देहम् ) देह को ( आस्थितः ) स्वीकार करने वाले भगवान ( तादृशीः ) उस प्रकार की ( क्रीडाः ) लीलाओं को ( भजते ) करते हैं ( याः ) जिन क्रीडाओं को ( श्रुत्वा ) श्रवण करके ( तत्परः ) भगवत्पर जीव ( भवेत् ) हो जाये ॥ ३७ ॥

**भावार्थ**—भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये मनुष्य देह में स्थित भगवान उस प्रकार की लीला करते हैं कि जिनका श्रवण कर जीव भगवत्पर हो जाये ॥ ३७ ॥

( सुबो० ) भक्तानामनुग्रहार्थमेव भक्तसमानरूपं देहमास्थितः । विजातीये तेषां विश्वासो न भवेदिति । ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः प्रदर्शितः, तत्त-एवं गोपिकानामप्यनुग्रहाय स्वानन्दं गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते । तत्त-द्धर्मप्रवेशव्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्यानिवृत्तत्वात् । यद्वा भक्तानां मानुषं देहं प्रति

आस्था सञ्जातास्मिन्निति स तथा। तत्रापि महान् पूर्णकामः सर्वं दातुं शक्तः। न त्वेवं निषिद्धप्रकारेणात्मानं दातुमिति। अत एतां लीलां निरोधपूर्वकादेय-दानरूपां यः श्रोष्यति, सः सर्वथा भगवत्परो भविष्यतीति भगवता तथाचरणं कृतम्। तदाह याः श्रुत्वा तत्परो भवेदिति ॥ ३७ ॥

भगवान् भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये ही भक्तसमान रूप धारण करते हैं, अतः यहां भी भक्तसमान रूप मनुष्यदेह धारण किया है।

यदि भगवान भक्तसमान रूप धारण न करते, और विजातीय अन्य प्रकार का रूप धारण करते तो भक्तों को विश्वास नहीं होता; इससे जिस प्रकार मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये भगवान ने मनुष्य शरीर का प्रदर्शन किया है, उसी प्रकार गोपियों के ऊपर भी अनुग्रह करने के लिये भगवान अपने स्वरूपानन्द का दान गोकुल में करने को उस प्रकार की क्रीडा करते हैं, कारण कि भगवान के पृथक् पृथक् धर्मों के प्रवेश बिना श्रोताओं के पृथक् पृथक् दोषों की निवृत्ति नहीं होती है, और जिस भगवान की लीला श्रवण करने से भगवद्भाव प्राप्त हो जाता है, तो फिर भगवल्लीला मध्यपाती-भगवान के साथ लीला करने वाले भक्तों के स्वरूप विषय में क्या कहना है, यह भाव है।

अथवा भक्तों के मनुष्यदेह के प्रति आस्था उत्पन्न हुई जिसमें इस प्रकार के भगवान् हैं, इस पक्ष में 'आस्थितः' इसका विग्रह षष्ठी विभक्ति से ही करना चाहिये यहां 'तदस्य सञ्जा-तम्' इस सूत्र से 'इतच्' प्रत्यय हुआ है। इसका अन्वय इस प्रकार है कि भक्तों के मनुष्यदेह के प्रति आस्था उत्पन्न हुई, इस प्रकार का भगवान अनुग्रह करने के लिये उस प्रकार की लीला करता है, कि जिस लीला का श्रवण कर जीव भगवत्पर हो जाता है।

अब अनुग्रह-पद का तात्पर्य कहते हैं कि ( तत्रापि ) उसमें भी भगवान ने भक्तों के मनुष्य देह के प्रति आस्था की है, उसमें भी भगवान् महान् पूर्णकाम सर्व वस्तु दान करने के लिये समर्थ है, किन्तु इस निषिद्ध प्रकार से आत्मा का स्वरूपानन्द का दान नहीं दे सकता है, अर्थात् अनुग्रह की उक्ति से स्वयं पूर्णकाम होने के कारण निषिद्ध प्रकार से स्वरूपानन्द देने के लिये समर्थ नहीं है, अतः उक्त प्रकार निषिद्ध नहीं है, भगवान तो स्वरूपभूत ही आनन्द देने में समर्थ है, इसलिये जिस प्रकार जीव इन्द्रियों के द्वारा सुख उत्पन्न करता है, उस प्रकार भगवान इन्द्रियों के द्वारा सुख उत्पन्न नहीं करता, अतः रमण प्रकार निषिद्ध नहीं है।

इस प्रकार भगवान् की लीला में निषिद्ध प्रकार नहीं होने से जो मनुष्य निरोधपूर्वक अदेय दानरूप-देने योग्य नहीं इस प्रकार के स्वरूपानन्द का दानरूप, इस भगवान की लीला का श्रवण करेगा, वह सर्वथा भगवत्पर हो जायेगा, इसीलिये भगवान् ने इस प्रकार का आचरण किया है, इसी बात को श्री शुकमुनि कहते हैं कि 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' जिस लीला का श्रवण कर जीव भगवत्पर हो जाता है ॥ ३७ ॥

( सुबो० ) ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इति अदत्तोपादानं गोपानां मनसि खेदः तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह नासूयन्निति।

यदि शंका करो कि भगवान् ने भक्तों के ऊपर अनुग्रह करके इस प्रकार का जो आचरण किया है, इसके श्रवण करने वालों को भी भगवत्परता हो जाती है, इस प्रकार आपका कहना

सब ठीक है, किन्तु तथापि लोक व्यवहार में स्त्रियां अन्याधीन होती हैं, इसलिये बिना दी हुई वस्तु का लेना, गोपों के मन में खेद और गोपों द्वारा भगवान की अपकीर्ति करना, इस प्रकार तीन दोष प्राप्त होते हैं। इस शंका के उत्तर में कहते हैं।

नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

**पदपदार्थ**—( तस्य ) उस भगवान की ( मायया ) माया से ( मोहिताः ) मोहित हुए ( व्रजौकसः ) व्रजवासी गोप, (स्वान्) अपनी (स्वान्) अपनी (दारान्) स्त्रियों को ( स्वपार्श्व-स्थान् ) अपने पास ही ( मन्यमानाः ) मानते ( कृष्णाय ) कृष्ण के लिये ( न ) नहीं ( असूयन् ) ईर्ष्या से देखे ( खलु ) यह बात प्रसिद्ध है।। ३८ ।।

**भाषार्थ**—भगवान की माया से मोहित व्रजवासी गोप अपने पास ही अपनी अपनी स्त्रियों को मानते कृष्ण के लिये ईर्ष्या से नहीं देखते थे, यह बात प्रसिद्ध है ।। ३८ ।।

( सुबो० ) ते भगवन्तं नासूयन्, असूयया न दृष्टवन्तः। प्रथमतः प्रवृत्ति ज्ञात्वापि भगवन्मायया मोहिता नासूयन्। अग्रे तु स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान् दारान् मन्यमाना जाताः। यतो व्रजौकसः पूर्वापरानुसन्धानरहिताः। सर्वथा अङ्गीकृता इति वा। एतादृशानां प्रभौ दोषारोपासम्भवादिति भावः। अयमर्थः सर्वजनीन इति खल्वित्युक्तम्। भगवत्सान्निध्येऽपि मोहार्थं तस्येति। बुद्धिरेव तेषां भ्रमात्। शिष्टं भगवत एवेति। मननमात्रेणैव सर्वदोषपरिहारः। अनेन तास्वपि दोषारोपो निवारितः ॥ ३८ ॥

गोप भगवान को ईर्ष्या से नहीं देखते हुए, गोप प्रथम इस बात को जानते थे कि हमारी स्त्रियां भगवान के पास गई हैं, प्रथम इस बात को जान करके भी भगवान् की माया से मोहित हुए भगवान से ईर्ष्या नहीं करते थे।

भगवान के निकट गमन से लेकर पुनः अपने घर लौटने तक अपने पास हमारी स्त्रियां स्थित हैं, इस प्रकार अभिमान से ईर्ष्या की संभावना ही नहीं है, इस बात का हृदय में विचार करके कहते हैं कि 'अग्रे तु' आगे तो अपने पास में स्थित ही अपनी अपनी स्त्रियों को मानते हुए, इसमें कारण कहते हैं कि ( व्रजौकसः ) व्रज में रहने वालों को पूर्व पर का अनुसंधान नहीं रहता है।

अज्ञान से गोपों ने भगवान को दोष नहीं लगाया, इससे भगवान ने गोपों का अङ्गीकार नहीं किया है, इस प्रकार सूचित होता है, इसी अरुचि से पक्षान्तर कहते हैं (अथवा) 'व्रजौकसः' व्रजवासियों का भगवान ने सर्वथा अङ्गीकार किया है, इस प्रकार अङ्गीकृत व्रजवासियों का प्रभु में दोषारोपण करना संभव नहीं होता है। यह भाव है।

मूल का 'खलु' पद सूचित कर रहा है कि इस अर्थ को सब लोग जानते हैं 'सर्वथा अङ्गी-कृता इति वा' इस पक्ष में मायापद बुद्धिवाचक है, अनेकार्थकोश में कहा है 'स्यात् माया शाम्बरी क्रिया, दम्भो बुद्धिश्च'।

इस पक्ष में इस प्रकार अर्थ है कि भगवान की माया से भगवत्सम्बन्धिनी उत्तम बुद्धि से मोहित-अर्थात् अत्यन्त स्नेह कला युक्त होने वाले गोपों ने भगवान की असूया नहीं की, 'खलु' यह बात प्रसिद्ध है कि अपनी स्त्रियों को अपने अपने पास मानते सम्मान करते हुए। इसी अर्थ को आगे विशद करते हैं कि गोपियां भगवान के पास में थीं, फिर भी गोपों को मोह हो गया, इस बात का ज्ञापन मूल में ( तस्य )भगवान की माया से, यह पद करता है।

भगवान की माया से गोपों की बुद्धि ही भ्रम से इस प्रकार की हो गई कि गोपियां हमारे समीप में ही स्थित हैं, भगवान ने इस प्रकार का भ्रम संपादन करके गोपों की बुद्धि ही माया से मोहित कर दी, भ्रम से गोपों की बुद्धि इस प्रकार की हो गई कि हमारी स्त्रियां हमारे समीप में ही हैं, भगवान के समीप नहीं गईं।

इस प्रकार की बुद्धि केवल गोप संबन्धिनी है, शेष सर्व देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण जीव आप्त घर आदि भगवान का ही है, भगवदीय है, इस प्रकार मनन करने से वास्तव में भगवान के रमण करने में भी दोष नहीं है। बुद्धि से दोषारोप भी संभव हो सकता है, कारण बुद्धि इस समय भगवदीय नहीं है, शेष सब देह आदि भगवदीय हैं, इस प्रकार मन में विचार करने से सब दोष मन से दूर हो सकते हैं।

गोपियों का भी सब भगवदीय है, इसलिये गोपियों के प्रसिद्ध पति भी भगवदीय वस्तु के भीतर होने से निवेदित हैं। अतः गोपियों के पतियों की भगवान में दोष बुद्धि की स्फूर्ति ही महान् दोष है, वह दोषारोप 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोपियों को अपने पास मानने से दूर हो गया है, अतः सब दोष का परिहार है।

इस प्रकार गोप निर्दोष हैं, और निर्दोष भगवान के सङ्ग से गोपियों में भी किसी प्रकार का दोष नहीं है।

यदि गोप निर्दोष नहीं होते तो गोपों के संसर्ग से उत्पन्न दोष गोपियों में भी आ जाता।

यहां प्रथम ( व्रजौकसः ) इस पद में दो पक्ष कहे हैं, प्रथम पक्ष में व्रजवासी हैं, इसलिये इनको पूर्व पर का अनुसन्धान नहीं होता है, इस प्रकार प्रथम अज्ञान पक्ष, और द्वितीय पक्ष, व्रजवासियों का भगवान ने सर्वथा अङ्गीकार किया है, इस प्रकार दो पक्ष कहे हैं, उसमें जो गोप रात्रि में गान करते हैं, उनका समावेश द्वितीय पक्ष में है, और अन्य गोप जो अज्ञान से भगवान में दोषारोप नहीं करते हैं, उनका समावेश प्रथम पक्ष में है ॥ ३८ ॥

( सुबो० ) एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य उक्तां लीलामुपसंहरति ब्रह्मरात्र इति।

इस प्रकार प्रासङ्गिक दोष का परिहार करके पूर्व वर्णित लीला का उपसंहार श्री शुकदेव जी करते हैं।

ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।
अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहान् भगवत्प्रियाः ॥ ३९ ॥

पदपदार्थ—( ब्रह्मरात्रे ) अरुणोदय ( उपावृत्ते ) सम्यक् प्राप्त होने पर ( वासुदेवानुमोदिताः ) वासुदेव भगवान से अनुमोदित ( गोप्यः ) गोपियां ( भगवत्प्रियाः ) भगवान जिनको प्यारे अथवा भगवान की प्यारी ( अनिच्छन्त्यः ) घर जाने की इच्छा नहीं करतीं ( स्वगृहान् ) अपने अपने गृहों को ( ययुः ) गईं ॥ ३९ ॥

भावार्थ—ब्रह्मरात्र अरुणोदय होने पर वासुदेव भगवान से अनुमोदित भगवान की प्रिय गोपियां घर जाने की इच्छा न होने पर भी अपने अपने गृहों को गईं ॥ ३९ ॥

( सुबो० ) अरुणोदयो ब्रह्मरात्रम, तस्मिन् उपावृत्ते सम्यक् जाते । तदन्तर्यामितया प्रविष्टो भगवान् गृहे गन्तव्यमितीच्छामुत्पादितवान् । ततः भगवतानुज्ञाताः । यतो भगवान् मोक्षदाता । ताश्चेत् आसन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति, तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवेनानुमोदिताः । यद्यपि तासामिच्छा न स्थिता, सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनस्य कृतत्वात्, किं गृहेण लोकैर्वेति, तथापि गोप्य इति, विपरीतबुद्धिर्हंठबुद्धिश्च तासां नास्तीति, स्वगृहान् ययुः । तथापि तासां न गृहाः प्रियाः, किन्तु भगवानेव । नापि संसारभयम्, यतो भगवतः प्रियाः ॥ ३९ ॥

अरुणोदय-ब्रह्मरात्र जिस समय अरुणोदय हुआ, उस समय गोपियों में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट भगवान गृह में जाना चाहिये इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न करते हुए, अर्थात् गोपियों ने घर जाने की इच्छा प्रकठ की, और भगवान ने घर जाने की आज्ञा प्रदान कर दी, कारण कि भगवान मोक्षदाता है।

दिन में विप्रयोग से उत्पन्न आर्ति में और सायंकाल प्रिय भगवान के संगम में जो आनन्द प्राप्त होता है, वह भगवान के सदा दर्शन में नहीं है, इसलिये यहां विप्रयोग के अनन्तर भगवान के समागम में जो आनन्द है वह मोक्ष पद से कहा है।

प्रकाशकार कहते हैं कि यदि शंका करो कि पूर्व श्लोक में दार पद से यहां अन्यपूर्वाश्रुतिरूपा गोपियों का ही गृह गमन है, कुमारिकाओं का गृहगमन नहीं है। इस शंका का निरास भी टिप्पणी में 'दिवाविप्रयोग' इत्यादि कहने से ही कर दिया है, यह जानना चाहिये।

सभी गोपियां अपने अपने घर गईं, गोपियां यदि सन्ध्या समय तक अन्तःकरण में भीतर भगवान का स्मरण करेंगी, तो मोक्ष की अधिकारिणी हो जायेंगी, इसके लिये वासुदेव ने—मोक्षदाता ने अनुमोदित किया, अर्थात् गोपियों में घर जाने की इच्छा उत्पन्न की।

यद्यपि गोपियों के घर जाने की इच्छा नहीं थी, कारण कि सर्व त्याग करके भगवान का भजन किया है, फिर गोपियों को घर जाने से क्या प्रयोजन है, और लोक से क्या प्रयोजन है तथापि, 'गोप्यः' गोपियां हैं, इनकी विपरीत बुद्धि और हठबुद्धि नहीं है, इसलिये अपने अपने गृहों को चली गईं, अपने गृह सभी गोपियों को प्रिय नहीं हैं, किन्तु भगवान ही प्रिय हैं, गोपियों को संसारभय भी नहीं है, कारण कि भगवान की प्रिया हैं ॥ ३९ ॥

( सुबो० ) मोक्षार्थमिदं चरित्रमिति ज्ञापयितुं एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह विक्रीडितमिति ।

भगवान का यह चरित्र मोक्ष देने के लिये है, इस बात को ज्ञापन करने को श्री शुकदेव जी इस उपाखयान श्रवण का फल कहते हैं।

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥ ४० ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कंधे पूर्वार्धे
रासक्रीडावर्णनं नाम त्रिंशोऽध्यायः ।

**पदपदार्थ**—( व्रजवधूभिः ) गोपियों के साथ ( विष्णोः ) व्यापक भगवान का ( इदं ) इस ( विक्रीडितं ) रमण चरित्र को ( यः ) जो कोई ( श्रद्धान्वितः ) श्रद्धायुक्त पुरुष ( अनुशृणुयात् ) श्रवण करे ( अथ ) अनन्तर ( वर्णयेत् ) वर्णन करे वह ( भगवति ) भगवान में ( परां ) पर ( भक्तिं ) भक्ति को ( प्रतिलभ्य ) प्राप्त करके ( हृद्रोगम् ) हृदय रोग ( कामं ) काम को ( आशु ) शीघ्र ( अपहिनोति ) दूर करता है (च) और वह ( अचिरेण ) अल्पकाल में ( धीरः ) धीर हो जाता है ॥ ४० ॥

**भाषार्थ**—गोपियों के साथ व्यापक भगवान के इस रमणचरित्र को श्रद्धायुक्त जो कोई पुरुष श्रवण करे और अनन्तर वर्णन करे वह भगवान में पराभक्ति प्राप्त करके हृदय रोग काम को शीघ्र दूर करता है, और फिर अल्प काल में धीर हो जाता है ॥ ४० ॥

( सुबो० ) व्रजवधूभिः सह भगवत इदं विशेषेण क्रीडितं श्रद्धान्वितो भूत्वा सम्यक् कथ्यमानमुपशृणुयात् । अथवा वर्णयेत् । श्रवणानन्तरमेव कीर्तनमित्यथशब्दः । य इति नात्र वर्णादिनियमः किन्तु यः कश्चन । भगवतो माहात्म्यश्रवणादेवमपि मोचयतीति । भक्तानां च सर्वथा प्रतिपत्तिश्रवणाच्च । भगवति परां भक्तिमुपगतः । ततो भक्त्या अन्तःस्थिरीभूतया हृदयस्य रोगरूपं काममाशु शीघ्रमेवापहिनोति । यः पूर्वं हृदयबाधकत्वेन स्थितः, शीघ्रमेव च बाधकर्ता, तमाश्वेव दूरीकरोति । श्रवणमात्रेणैव । ततः पूर्ववासनया पुनरुद्गमे अचिरेणैव धीरो भवति । अत इदं साभिप्रायं श्रोतव्यमिति फलप्रकरणत्वात् फलमुक्तम् ॥ ४० ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षित-
विरचितायां दशमस्कंधविवरणे त्रिंशाध्यायविवरणम् ।

गोपियों के साथ भगवान का यह विशेष करके क्रीडित-रमण चरित्र श्रद्धायुक्त हो करके सम्यक् प्रकार से कहा गया जो कोई श्रवण करे अथवा वर्णन करे, श्रवण के अनन्तर ही कीर्तन होता है, इसलिये मूल में 'अथ' शब्द कहा है, मूल में 'यः' शब्द है, इससे श्रवण करने में ब्राह्मण आदि वर्ण का नियम नहीं है, किन्तु जो कोई श्रवण करे, अथवा वर्णन करे उसको आगे कहा फल प्राप्त होता है । भगवान का माहात्म्य श्रवण करने से इस प्रकार का भी संसार से मोक्ष करता है, अर्थात् जीव में अन्य गुण होने पर भी इस चरित्र का श्रवण-वर्णन करने मात्र से ही मुक्त हो जाता है ।

भक्तों की श्रवण करने से भगवान में सर्वथा प्रतिपत्ति हो जाती है, और भगवान् में पराभक्ति हो जाती है, इसके अनन्तर भीतर स्थिर होने से हृदय का रोगरूप काम शीघ्र ही दूर हो जाता है, जो काम प्रथम हृदय की बाधकत्व से स्थित था, और शीघ्र ही बाध करने वाला था, उस हृदय रोग काम को इस लीला के श्रवणमात्र से शीघ्र ही दूर करता है, इसके अनन्तर पूर्व वासना से काम फिर उत्पन्न होने पर भगवान की लीला श्रवण करने वाला पुरुष शीघ्र ही धीर हो जाता है, इसलिये भगवान का यह रमण चरित्र अभिप्राय सहित इसका रहस्य समझ करके ही सुनना चाहिये । यह फल प्रकरण है, इसलिये फल का वर्णन किया है ।

श्लोक में 'हृद्रोगमाशु' इसका 'आशुहृद्रोगं' इस प्रकार अन्वय करके श्री महाप्रभुजी ने व्याख्यान किया है, 'शीघ्रमेव च बाधकर्ता' और 'तमाश्वेव दूरीकरोति' इस वाक्य में आशु शब्द का 'अपहिनोति' इस पद के साथ अन्वय करके व्याख्यान किया है, इस प्रकार आशु पद का देहलीदीपक न्याय से दोनों जगह अन्वय किया है । इस प्रकार जानना चाहिये ॥ ४० ॥

अब श्री गो० बिट्ठलनाथ जी फल प्रकरण की टिप्पणी की समाप्ति में कहते हैं ।

श्रुतिसिद्धरसात्मत्वं प्रकटीकृत्य भूतले ।
क्रीडन् मल्लोचने शश्वच्छिशिरीकुरुते प्रभुः ॥

श्रुतियों में जिस प्रकार भगवान का स्वरूप रसरूप कहा है, उस स्वरूप को भूतल में प्रकट करके प्रभु क्रीडा करते मेरे नेत्रों में निरन्तर शीतलता करते हैं । योजनाकार लालूभट्ट जी योजना की समाप्ति में कहते हैं ।

श्रृङ्गारस्थायिभावत्वाद् बालकृष्णस्वरूपवान् ।
स एव रसतां प्राप्तो गोवर्धनधरः प्रभुः ॥

श्रृङ्गार के स्थायी भाव होने के कारण बालकृष्ण स्वरूपवान ही रसता को प्राप्त गोवर्धन धारण करनेवाले प्रभु हैं ।

मार्गशीर्षसिते पक्षे सप्तम्यां चन्द्रवासरे ।
वर्षे श्रीविक्रमार्कस्य त्रिकराभ्रकरैर्मिते ( २०२३ ) ॥ १ ॥
चतुर्वेदकुलोत्पन्नजगन्नाथस्य शर्मणः ।
फलाध्यायस्य भाषेयं पूर्णा जाता कृपाबलात् ॥ २ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनी के श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितदशमस्कंध-
तामसफलप्रकरणतीसवीं अध्याय के उपलब्ध साहित्य सहित मथुरास्थ
जगन्नाथ चतुर्वेदी ( सर्वन ) कृत भाषाविवरण पूर्ण हुआ ।

समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ।

## रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनीगत-

# श्रीमद्भागवतोक्तश्लोकानुक्रमणिका

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| अटति यद् भवानह्नि | ३०५ |
| अतोऽत्र भगवांश्चक्रे | ४०६ |
| अत्र प्रसूनावचयः | २३० |
| अथवा मदभिस्नेहाद् | ८७ |
| अनयाऽऽराधितो नूनं | २२४ |
| अनुग्रहाय भक्तानां | ५१७ |
| अन्तर्गृहगताः काश्चित् | ४३ |
| अन्तर्हिते भगवति | १७६ |
| अन्विच्छन्त्यो भगवतो | २४५ |
| अपराऽनिमिषद्दृग्भ्यां | ३३९ |
| अप्येष पत्न्युपगतः प्रिययेह | २०० |
| अस्याः सर्वोपकाराय | ४०६ |
| अस्वर्ग्यमयशस्यं च | ९२ |
| आरुह्यैका पदाक्रम्य | २१५ |
| आहूय दूरगा यद्वत् | २१२ |
| इति गोप्यः प्रगायन्त्यः | ३१६ |
| इति विक्लवितं तासां | १५४ |
| इति विप्रियमाकर्ण्य | ९६ |
| इत्थं भागवतो गोप्यः | ४१३ |
| इत्युन्मत्तवचो गोप्यः | २०५ |
| इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताः | २३५ |
| उक्तं पुरस्तादेतत्ते | ४९ |
| उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना | ४३४ |
| उपगीयमान उद्गायन् | १६५ |
| एका भ्रुकुटिमाबध्य | ३३६ |
| एकोनत्रिंशकेऽध्याये | ३१५ |
| एवं कृष्णं पृच्छमाना | २१८ |
| एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श | ४६७ |
| एवं भगवतः कृष्णाद् | १६९ |
| एवं मदर्थोज्झितलोकवेद | ३९४ |
| एवमुक्त्वा प्रियामाह | २३६ |
| एवं शशाङ्कांशुविराजिता | ४९५ |
| कच्चित् कुरबकाशोक | १९३ |
| कच्चित्तुलसि कल्याणि | १९५ |
| कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म | ४६३ |
| कस्याः पदानि चैतानि | २२२ |
| कस्याश्चिन्नाट्यविक्षिप्त | ४४८ |
| कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः | २०९ |
| कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य | २१३ |
| काचित् कराम्बुजं | ३३३ |
| काचिदञ्जलिनाऽगृह्णात् | ३३५ |
| काचिद् रासपरिश्रान्ता | ४४३ |
| काचित् समं मुकुन्देन | ४३८ |
| कामं क्रोधं भयं स्नेह | ४९ |
| कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं | ४०६ |
| का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृत | १४४ |
| किं ते कृतं क्षिति तपो | १९८ |
| कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः | ११६ |
| कृत्वा तावन्तमात्मानं | ४८१ |
| कृत्वा मुखान्यवशुचः | ९७ |
| कृष्णं विदुः परं कान्तं | ४७ |
| कृष्णरामायते द्वे तु | २११ |
| कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य | ४७८ |
| केशप्रसाधनं त्वत्र | २३१ |
| गतिस्मितप्रेक्षण | १८१ |
| गत्यानुरागस्मित | १७७ |
| गायन्त्य उच्चैरमुमेव | १८३ |
| गोपीनां तत्पतीनां च | ५१६ |
| गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डल | ४८४ |
| गोप्यो लब्ध्वाऽच्युतं कान्तं | ४५८ |
| चलसि यद् व्रजाच्चालयन् | २९२ |
| चित्तं सुखेन भवतापहृतं | १२३ |
| चूतप्रियालपनसाशन | १९७ |
| जयति तेऽधिकं जन्मना | २५५ |
| जलं वायुश्च सामग्री | ४०६ |
| तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं | ३३० |
| तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण | ३४० |
| ततश्च कृष्णोपवने जलस्थल | ४९३ |
| ततो गत्वा वनोद्देशं | २३५ |
| ततो दुन्दुभयो नेदुर् | ४२६ |
| ततोऽविशन् वनं चन्द्र | २४७ |
| तत्राऽतिशुशुभे ताभिर् | ४२९ |
| तत्रारमत गोविन्दो | ४१६ |
| तत्रैकांसगतं बाहुं | ४४५ |
| तत्रैकोवाच हे गोपाः | २१५ |
| तत्रोपविष्टो भगवान् | ३६१ |
| तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रिया | ४७६ |
| तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं | २३ |
| तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्रुजो | ३५४ |
| तद्यात मा चिरं गोष्ठं | ८५ |
| तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन | १३५ |
| तन्मनस्कास्तदालापाः | २४८ |
| तमेव परमात्मानं | ४३ |
| तया कथितमाकर्ण्य | २४६ |
| तव कथामृतं तप्तजीवनं | २८३ |
| तस्या अमूनि नः क्षोभं | २२८ |
| ता दृष्ट्वान्तिकमायाता | ७२ |
| ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्ग | ४८६ |
| ताभिर्विधूतशोकाभिर् | २४६ |
| ताभिः समेताभिरुदार | १६२ |
| ता वार्यमाणाः पतिभिः | ४० |
| तासां तत्सौभगमदं | १७० |
| तासामतिविहारेण | ४८३ |
| तासामाविरभूत् शौरिः | ३२० |
| ताः समादाय कालिन्द्या | ३५० |
| तैस्तैः पदैस्तत्पदवी | २२१ |
| त्रिशत्तमे हरिः प्रीतो | ४०६ |

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैः | २९६ |
| दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो | ९० |
| दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रता | ४३ |
| दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् | ३६ |
| दृष्टं वनं कुसुमितं | ९३ |
| दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ | १९० |
| दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं | ३२ |
| दैत्यायित्वा जहारान्या | २१० |
| धन्या अहो अमी आल्यो | २२७ |
| न खलु गोपिकानन्दनो | २६५ |
| न चैवं विस्मयः कार्यो | ४९ |
| नद्याः पुलिनमाविश्य | १६६ |
| न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां | ३९८ |
| न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र | २२९ |
| नहि साधनसम्पत्त्या | ३१५ |
| नासूयन् खलु कृष्णाय | ५१९ |
| नाहं तु सख्यो भजतोऽपि | ३९० |
| निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं | ३४ |
| नृणां निःश्रयेसार्थाय | ४९ |
| नृत्यती गायती काचित् | ४५६ |
| पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवाः | ३०७ |
| पदानि व्यक्तमेतानि | २२० |
| परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा | ३८ |
| पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः | ४३० |
| पुनः पुलिनमागत्य | २५० |
| पृच्छतेमा लता बाहू | २०४ |

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| प्रणतकामदं पद्मयार्चितं | २९९ |
| प्रणतदेहिनां पापकर्षणम् | २७४ |
| प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षितं | २८९ |
| प्रेष्ठं प्रियेतरमिव | ९८ |
| बद्धान्यया स्रजा काचित् | २१७ |
| बाहुप्रसारपरिरम्भ | १६७ |
| बाहुं प्रियांस उपधाय | २०२ |
| ब्रह्मरात्र उपावृत्ते | ५२० |
| भगवानपि ता रात्रीः | १५ |
| भजतोऽनुभजन्त्येक | ३६७ |
| भजतोऽपि न वै केचिद् | ३८३ |
| भजन्त्यभजतो ये वै | ३७७ |
| भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां | ८९ |
| मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया | २८० |
| मातरः पितरः पुत्राः | ८० |
| मानं दधत्य ऋषभस्य | ४८४ |
| मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां | २१४ |
| मालत्यदर्शि वः कच्चित् | १९६ |
| मिथो भजन्ति ये सख्यः | ३७१ |
| मैवं विभोऽर्हति भवान् | १०३ |
| यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं | ३११ |
| यत्पत्यपत्यसुहृदामनु | ११० |
| यं मन्येरन् नभस्तावद् | ४१९ |
| यर्ह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं | १२९ |
| रजन्येषा घोररूपा | ७८ |
| रसात्मकस्तु यः कामः | ४०६ |

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| रहसि संविदं हृच्छयोदयं | ३०८ |
| रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो | ४१९ |
| रेमे तया चात्मरत | २३१ |
| लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या | ३८ |
| वलयानां नूपुराणां | ४२७ |
| विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं | ५२१ |
| विरचिताभयं वृष्णिधूर्य ते | २६८ |
| विषजलाप्ययाद् व्यालराक्षसाद् | २६४ |
| वीक्ष्यालकावृतमुखं तव | १३८ |
| व्रजजनार्तिहन् वीर | २७० |
| व्रजवनौकसां व्यक्तिरङ्ग ते | ३१० |
| व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरो | १५१ |
| शरच्चन्द्रांशुसन्दोह | ३५२ |
| शरदुदाशये साधु जात | २५८ |
| श्रवणाद् दर्शनाद् ध्यानात् | ९३ |
| श्रीयत्पदाम्बुजरजश्चकमे | १३२ |
| सन्तुष्टः सर्वदुःखानि | ३१५ |
| सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं | ३६४ |
| सर्वास्ताः केशवालोक | ३४४ |
| सा च मेने तदात्मानं | २३५ |
| सिञ्चाङ्ग नस्त्वदधरामृत | १२५ |
| सुरतवर्धनं शोकनाशनं | ३०३ |
| सोऽम्भस्यलं युवतिभिः | ४९१ |
| स्वागतं वो महाभागाः | ७५ |
| हा नाथ रमण प्रेष्ठ | २४३ |

## रासपञ्चाध्यायी-श्रीसुबोधिनीगत-व्याख्योद्धृतश्लोकानुक्रमणिका

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| अतोऽत्र भगवांश्चक्रे | ४०६ |
| अतो न कापि मर्यादा | १५७ |
| अथवा प्रार्थनाद् यायाः | २५२ |
| अनन्यपूर्वा द्विविधा | २५२ |
| अन्तःस्थितो रसः पुष्टो | २६४ |
| अष्टाविंशे हरेर्नागं | २५२ |
| अस्याः सर्वोपकाराय | ४०६ |
| आत्मा यावत् प्रपञ्चोऽभूत् | ३ |
| एकोनत्रिंशकेऽध्याये | ३१५ |
| एकोनविंशतिविधा गोप्यः | २५२ |
| कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं | ४६० |
| कामेन पूरितः कामः | १५६ |
| कृत्रिमत्वात्तु भावस्य | १८४ |
| कृष्णभावनया सिद्ध | २५२ |
| क्रिया सर्वापि सैवात्र | १५६ |
| गर्वाभावश्च तत्रादौ | १७४ |
| जलं वायुश्च सामग्री | ४०६ |
| जीवेऽन्तःकरणे चैव | ५४ |
| ततो नानाविलासेन | १५४ |

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| ततो रूपप्रपञ्चस्य | ३ |
| ततो हि भजनानन्दः | २ |
| तथैवानन्यपूर्वाश्च | २५२ |
| तदर्थं भगवांस्तासु | १७४ |
| तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां | २५२ |
| तमोरजःसत्त्वभेदाः | ७६ |
| तादृशीं भावनां कुर्यात् | ५४ |
| तिरोभावस्ततश्चाऽपि | १५४ |
| त्रिंशत्तमे हरिः प्रीतो | ४०६ |
| दोषोऽभिमानवचनं | २३६ |
| नहि साधनसम्पत्त्या | ३१५ |
| पुनस्ता एव त्रिविधा | २५२ |
| पूर्वोक्तमपि सर्वं हि | २८१ |
| बाह्याभ्यन्तरभेदेन | २ |
| ब्रह्मानन्दात् समुद्धृत्य | २ |
| भक्त्यातिमत्तास्तद्भावम् | २०७ |
| भगवच्चरितं सर्वं यतो | १५७ |
| यथा भगवतो नागात् | १८४ |
| रसात्मकस्तु यः कामः | ४०६ |

| | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| राजसी तामसी चैव | २५२ |
| लौकिकस्त्रीषु संसिद्धः | २ |
| वाक्प्राणैस्तु तृतीया स्यात् | ३ |
| वाक्यानां बाधवाक्यानि | १०२ |
| शब्दो हि धूमवल्लोके | १८४ |
| श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र | २५० |
| षड्गुणैश्वर्यभावेन | १५४ |
| षड्विंशे तु हरिः पूर्वं | ३ |
| सत्त्वादिगुणभावेन | २०७ |
| सन्तुष्टः सर्वदुःखानि | ३१५ |
| सप्तविंशे तिरोधानात् | १७४ |
| सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा | २०७ |
| सात्त्विकी तामसी चैव | २५२ |
| सामान्यरमणं पूर्वं | १५४ |
| स्त्रिय एव हि तां पातुं | २ |
| स्वयं प्रयुक्तकरणात् | २३७ |
| स्वानन्दस्थापनार्थाय | १७४ |
| हरेर्नागं प्रियं मत्वा | २५१ |
| हस्तेन च स्वरूपेण | २८१ |

श्री